भौतिकी

भारतीय एवं पश्चिमी भौतिकवाद

लेखक

डॉ० एच० एन० मिश्र

दर्शनशास्त्र-विभाग

सागर विश्वविद्यालय

सागर म० प्र०

ग्रन्थायन
१०४/४३२, पी० रोड, कानपुर

संस्करण-१९८९

मूल्य–साठ रुपये

मुद्रक–विवेक प्रिन्टर्स, कानपुर

आवरण–ई. ए. दास

Bhartiya Awam Pashchimi Bhautikwada by Dr. H. N. Misra
Rs 60—00

विषय सूची

अध्याय

भूमिका

समस्त परम्परावादी दर्शन कुछ विशेष समस्याओं से उलझा रहा। मुख्य रूप से ये समस्यायें इस विश्व और मानव जीवन की व्याख्या से सबन्धित रही है। प्रत्येक देश एव काल के दार्शनिकों ने इन समस्याओ के समाधान हेतु प्रयास किये हैं। इन प्रयासों को सुसबद्ध रूप से देखना ही दर्शन के इतिहास का अध्ययन कहलाता है। दर्शन के इतिहास मे विश्व एवं मानव जीवन के सम्बन्ध मे मुख्यतः दो दृष्टिकोण उपलब्ध होते है—प्रत्ययवाद और भौतिकवाद। प्रत्ययवादी दार्शनिको ने इस विश्व का आधार भौतिक तत्व को न मानकर किसी न किसी रूप में चित् शक्ति को स्वीकार किया। भारत मे विश्व के आधार रूप मे चित् तत्व की अवधारणा ऋग्वेद से लेकर आज तक विद्यमान है। पश्चिमी जगत मे इस प्रत्ययवादी विचारधारा का सुव्यवस्थित रूप प्लेटो से लेकर आजतक देखने को मिलता है। भारत और पश्चिम दोनो मे प्रत्ययवाद के रूप बदलते रहे है परन्तु सभी प्रत्ययवादियों ने इस धारणा का जोरदार खडन किया कि विश्व के आधार पर केवल भौतिक तत्व का ही अस्तित्व है। इस विचारधारा की एक विशेषता यह भी रही है कि प्रायः सभी प्रत्ययवादी इस दृश्यमान विश्व को सापेक्ष और असत्य समझते रहे। इस मान्यता की चरम परिणति पश्चिम मे बकर्ले के दर्शन में और भारत मे शकर के दर्शन मे हुई। बकर्ले ने जड़तत्व का अस्तित्व ही स्वीकार नही किया जबकि शंकर ने इस समस्त भौतिक जगत को 'स्वप्नवत' घोषित किया। इस प्रकार के दार्शनिको ने उस परम तत्व की अनुभूति की उपलब्धि मे ही जीवन की सार्थकता समझी। उसी अनुभूति को लक्ष्य बनाकर ही मानव आचरण के लिए मापदण्ड प्रस्तुत किये। धर्म मे अलौकिक शक्ति को स्थान मिला। कतिपय शाश्वत नैतिक मूल्य भी स्वीकार किये। अतः इस विचारधारा ने यदि एक ओर सुव्यवस्थित जीवन पद्धति को जन्म दिया तो दूसरी ओर कम से कम कुछ अनुयायिओ मे ससार के प्रति विरक्ति की भावना भी पैदा की। हिन्दू समाज द्वारा स्वीकृत "सन्यास आश्रम" के विचार के पीछे सभवतः यही धारणा कार्य कर रही है। यही नही कुछ विचारकों के अनुसार लगभग समस्त भारतीय दार्शनिक चिन्तन मे प्रत्ययवादी अवधारणा ही कार्य कर रही है। वैज्ञानिक खोजो के प्रकाश मे

रहकर भी गांधी, टैगोर, राधाकृष्णन्, अरविन्द इत्यादि आधुनिक भारतीय दार्शनिक इस विश्व मे सत्यता का अश स्वीकार करते हुए भी इसे सर्वथा सत्य स्वीकार नहीं कर सके। विश्व एव मानव जीवन से सम्बन्धित यह चिन्तन प्रणाली इतनी सबल रही है कि दर्शन के इतिहास से इसका उद्भव तो ढूंढा जा सकता है किन्तु इसके अन्त की कल्पना तक भी नही की जा सकती।

प्रत्ययवादी चिन्तन पद्धति के समानान्तर जो दूसरी मुख्य दार्शनिक विधा चलती आ रही है उसे भौतिकवाद के नाम से जाना जाता है। भौतिकवादी दार्शनिक इस समस्त अस्तित्व के कारण रूप मे जड तत्त्व को ही स्वीकार करते है। मानव चेतना एवं मनस् इत्यादि सब इसी जडतत्व के विकास अथवा पर्याय मात्र है। दर्शन के इतिहास मे भौतिकवाद के भी विभिन्न रूप उपलब्ध है किन्तु उन सब की तत्वमीमांसा मे अधिक भिन्नता नही है। मानव आचरण एव जीवन के अन्तिम लक्ष्य को लेकर इन भौतिकवादियो मे काफी भिन्नता पाई जाती है। जहाँ प्राचीन भौतिकवादी (चारवाक, सेरेनाइक्स इत्यादि) "यावत् जीवेत् सुख जीवेत्" के लक्ष्य को प्राप्त करने मे जीवन की सार्थकता समझते है, वही कतिपय आधुनिक वैज्ञानिक भौतिकवादी सामाजिक हित को ही सर्वोपरि रखते है और उसकी प्राप्ति के लिए अपने जीवन के उत्सर्ग को भी सार्थक मानते है। इनके जीवन का लक्ष्य समाज की व्याख्या करना मात्र न होकर उसका परिवर्तन करना है। ये भौतिकवादी विश्व-समाज के एक बड़े भाग को बदलने मे सफल भी हुए हैं। इसीलिए फ्रास के आधुनिक दार्शनिक ज्याँ पाल सात्र ने मार्क्सवाद को ही सही रूप में दर्शन माना है जबकि प्रत्ययवाद को वह एक आइडिआलोजी ही कहेगा। उसके अनुसार दर्शन वही है जो समाज की धारा को मोड़े, मनुष्य की जीवनपद्धति को बदले।

प्रश्न यह है कि क्या ये दोनो चिन्तन पद्धतिया एक दूसरे के प्रति प्रतिक्रिया के रूप मे विकसित हुई अथवा ये मानव मन की सहज उपज हैं। कतिपय दार्शनिक यह मानते है कि भौतिकवाद अध्यात्मवादी चिन्तन के प्रति प्रतिक्रिया है। उदाहरण के लिए डा० राधाकृष्णन् और डा० दासगुप्त जैसे विद्वान यह स्वीकार करते है कि भारत का दार्शनिक चिन्तन मूलत आध्यात्मिक है। प्रस्तुत लेखक इन विचारों से सहमत नही है। बात भारतीय दर्शन और पश्चिमी दर्शन की नही है। प्रश्न है दार्शनिक चिन्तन का। किसी भी काल अथवा देश का दार्शनिक चिन्तन भौतिकवादी प्रवृत्तिओ को त्यागकर नही चल सका। और यदि किसी भी दार्शनिक पद्धति ने यह किया भी तो वह पुस्तको मे सिमट कर रह गया अथवा कुछ बुद्धिजीविओ के मध्य बुद्धिविलास की वस्तु बनकर रह गया।

कान्ट का आचारशास्त्र इसका मुख्य उदाहरण है। जन्म से मृत्यु तक आश्रय देने वाले इस स्थूल विश्व की पूर्ण उपेक्षा किसी भी संवेदनशील दार्शनिक के लिए संभव नही है। यही कारण है कि भारत एव यूनान दोनो जगहो पर दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ भौतिकवादी प्रवृत्तियों से हुआ। यदि थेल्स एनाग्जीमेन्डर और एनाग्जीमिनीज पूर्णरूपेण भौतिकवादी है तो ऋग्वेद में भी भौतिकवाद को पर्याप्त स्थान मिला है। यदि पश्चिमी आधुनिक दर्शन पर भौतिकवाद का प्रभाव देखा जा सकता है तो राधाकृष्णन्, विवेकानन्द अरविन्द, एव टैगोर जैसे अध्यात्मवादी भी इस विश्व को स्वप्नवत मानने से इनकार करते हैं। वे इसमे सत्यता देखते है। इनके अतिरिक्त आधुनिक पश्चिमी जगत की तरह भारत मे भी उन दार्शनिकों की कमी नही है जिन्हे हम पूर्णरूपेण भौतिकवादी कह सकते है। आधुनिक भारत में एम. एन. राय और राहुल सांकृत्यायन जैसे विचारक और दार्शनिक भारत के पिछड़ेपन के लिए यहा के विचारकों की अध्यात्मवादी प्रवृत्ति को ही दोषी मानते है। अतः भौतिकवाद को किसी भी दर्शन-पद्धति के प्रति प्रतिक्रिया के रूप मे देखना एक सबल दर्शन-पद्धति के प्रति अन्याय है।

आश्चर्य की बात है कि एक दो विचारको को छोडकर किसी ने भी भारतीय चिन्तन मे भौतिकवादी प्रवृत्तियों को उजागर करने का प्रयास नहीं किया। अंग्रेजी भाषा मे तो एक दो विद्वानों ने इस कार्य को पूरा करने का प्रयास किया है, किन्तु हिन्दी मे इस विषय पर कोई भी सुसंबद्ध ग्रन्थ उपलब्ध नही है। प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना इसी उद्देश्य विशेष को लेकर की गयी है। इस पुस्तक के पहले कुछ अध्यायों मे भारतीय दर्शन मे भौतिकवादी प्रवृत्तिओं का उल्लेख किया गया है। चार्वाक दर्शन का संगोपाग विवेचन पुस्तक के इस भाग की विशेषता है। पुस्तक के अन्त में पश्चिमी भौतिकवाद का संक्षिप्त उल्लेख करने का प्रयास किया गया है। इस भाग में प्राचीन पश्चिमी दर्शन में डेमोक्राइटस और आधुनिक पश्चिमी दर्शन में कार्ल मार्क्स के विचारो का विवेचन प्रमुख है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन्ही दोनों का भौतिकवाद इस विश्व एवं समाज मे परिवर्तन का आधार बना। डेमाक्राइटस के परमाणुवाद ने आधुनिक भौतिकी की खोजों को आधार प्रदान किया। आधुनिक वैज्ञानिकों की परमाणु सम्बन्धी खोजो ने इस पृथ्वी मे निहित रहस्यों का उद्घाटन किया। इन खोजों ने मनुष्य को एक अद्भुत शक्ति प्रदान की। कार्ल मार्क्स के भौतिकवाद ने मानव समाज को एक दिशा दी। इसके अतिरिक्त हमने यह भी देखने का प्रयास किया है कि इस विचारधारा का दो संस्कृतिओ मे सापेक्षिक महत्व क्या है? क्या आधुनिक भारतीय जन-मानस् आज भी इस पद्धति के प्रति उतनी ही उपेक्षा का भाव रखता है जितना किसी समय के अद्वैतवदान्तिओं में था

अन्त मे हम उन सभी लेखको एव दार्शनिको के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिनके विचारो, रचनाओ एवं वार्तालाप से मुझे इस पुस्तक की रचना मे सहायता प्राप्त हुई है। सागर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर अर्जुन मिश्र का मैं विशेष आभारी हूँ जिन्होने मुझे इसको लिखने के लिए प्रोत्साहित ही नही किया वरन् प्रत्येक प्रकार से स्थान-स्थान पर सुझाव देकर इस ग्रन्थ की रचना को पूरा कराया। चिन्मय मिशन के श्री स्वामी शकरानन्द ने सपूर्ण पाडुलिपि को पढकर उसमे सुधार किये। उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

ग्रन्थायन प्रकाशन के उत्साही व्यवस्थापक श्री कृपाशकर द्विवेदी के प्रति मै आभार व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। इस नवयुवक एव उत्साही प्रकाशक की सहायता के बिना यह पुस्तक इतनी शीघ्रता से प्रकाशित नही हो सकती थी। मेरी सफलता पर निर्णय देना पाठको के अधिकार मे है।

सागर विश्वविद्यालय,
सागर
१५-२-८६

एच० एन० मिश्र

१
भौतिकवाद का तात्पर्य

जीव और जगत् की उत्पत्ति और स्थिति तथा उनकी प्रकृति को समग्र रूप से समझने का प्रयास दर्शन है। यह सत्य का दर्शन होने के कारण 'दर्शन' कहलाता है। यह केवल अनुमान, अवधारणा अथवा बौद्धिक खोज नहीं है। दर्शन वस्तुतः सत्य की अनुभूति और जीवन का पथ-प्रदर्शक है। जीवन और जगत की संरचना तथा इसके उद्देश्य को समझने पर ही हम अपने जीवन का कर्त्तव्य निर्धारित कर सकते हैं और सार्थक जीवन जी सकते है।

हमारे पास दार्शनिक चिन्तन का मुख्य उपकरण बुद्धि है। इन्द्रियाँ आदि अन्य उपकरण उसके सहायक है। चिन्तन और युक्ति के द्वारा दार्शनिक समस्याओं पर विचार करते है और समाधान पाते है। यदि बुद्धि सीमित संकुचित और स्थूल हुई तो वह दार्शनिक विचार मे रुचि नही लेती। यदि इस दिशा मे प्रवृत्त भी हुई तो उसके निर्णय छिछले होते है। उनमे तर्कीय दोष होता है। बुद्धि की अनेकरूपता के कारण दर्शन-पद्धतियाँ भी अनेकरूप हो गयी। पूर्व-पश्चिम में अनेक मत प्रचलित है।

अब तक जितने भी विचार हमारे सामने आये है उनमे भौतिकवादी मत सर्वाधिक प्राचीन और बहुमान्य है। पूर्व-पश्चिम के अगणित दार्शनिकों ने इसे परिपुष्ट और व्यवस्थित बनाने का प्रयास किया है। संसार मे इसके अनुयायी भी सर्वाधिक है। इसके अतिरिक्त जब कभी हम किसी अन्य दर्शन-पद्धति पर विचार करते है तो भौतिकवाद का खण्डन किये बिना आगे नही बढ सकते है, क्योंकि यह सामान्य मनुष्य का सहज दर्शन है। इसका यह तात्पर्य नही कि यह विचारहीन दर्शन है अथवा इसका कोई सुदृढ आधार नहीं है। हम देखेंगे कि इस क्षेत्र मे बहुत विचार हुआ है। आधुनिक काल मे वैज्ञानिक विचारकों के प्रयास से यह एक मूल्यवान और आदरणीय दर्शन बन गया है।

सामान्य रूप से दार्शनिक चिन्तन का उद्देश्य तत्व-जिज्ञासा है। हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि दृश्यमान जीवन और जगत् के मूल मे परम तत्व क्या है? उसका स्वरूप क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में दार्शनिकों के मुख्य चार मत

है—(१) भौतिकवाद या जडवाद, (२) प्रत्ययवाद (३) द्वैतवाद और तटस्थवाद। इनमें से परमतत्व कोई भी हो, उसकी संख्या कितनी है? इस प्रश्न के उत्तर भी तीन दिये जाते है—(१) एकत्ववाद, (२) द्वैतवाद और (३) अनेकत्ववाद।

इन सभी मतो मे सर्व प्रथम मत भौतिकवाद ही है। इस मत के प्रवर्तकों की धारणा है कि जड़-चेतन समस्त जगत का मूल तत्व भौतिक द्रव्य है जो स्वभाव से जड़ है। इस जगत की रचना उसी से हुई है। भौतिक द्रव्य ही स्वभाव से जब एक विशेष प्रकार की सरचना पाता है तो उसमे चेतना या जीव की अभिव्यक्ति होती है।

भौतिकवाद की परिभाषा

पैट्रिक के अनुसार, "भौतिकवाद वह सिद्धान्त है जिसमें भौतिक द्रव्य को ही एक मात्र मूल तत्व माना गया है। समस्त विश्व भौतिक जगत् है और अनुभव में आने वाली सभी वस्तुये जड पदार्थ से बनी हैं। चेतना भी उसी जड पदार्थ का एक रूप या कार्य है।"[1] न्यूटन द्वारा दी गयी भौतिकवाद की व्याख्या बहुत प्रसिद्ध है। उसके अनुसार, "एक निरपेक्ष देश है जो विन्दुओ से निर्मित है और एक निरपेक्ष काल है जो क्रमिक क्षणों का समुच्चय है। भौतिक द्रव्य के अणु है जो सदा विद्यमान रहते है और प्रत्येक क्षण देश के किसी विन्दु पर उपस्थित होता है। प्रत्येक अणु अन्य अणुओं पर शक्ति का प्रयोग करता है जिसके कारण गति उत्पन्न होती है। प्रत्येक अणु एक विशेष परिमाण मे सयुक्त रहा है जो एक दी हुई शक्ति के अणु मे उत्पन्न होने वाली गति से विरीत अनुपात मे होता है। भौतिकशास्त्र के नियम गुरुत्वाकर्षण के नियम के समान माने जाते है। वे आपेक्षिक स्थिति मे एक अणु के द्वारा दूसरे अणु पर पडने वाले दबाव की व्याख्या करते है।[2]

भौतिकवाद की इस प्रकार की व्याख्याये, स्थिर नहीं रह पाती है। वैज्ञानिक अनुसंधानों के साथ उन्हें बदलना पड़ता है क्योंकि विज्ञान उनकी मान्यताओं को खण्डित करता रहता है। एक समय मे जब अणु अविभाज्य था तब न्यूटन की परिभाषा उपयोगी मानी जाती थी किन्तु अब अणु विभक्त हो गया

---

1. Materialism is the theory that matter is the one and only kind of being, the primary substance. The universe is a material world, and all objects of experience composed of matter. Mind is a form or function of matter" C T. W. Patrick, Introduction to Philosophy P. 200
2. Bertrand Russell, The Analysis of Matter, PP. 13-14

ौर भौतिक द्रव्य ऊर्जा मे परिवर्तनीय सिद्ध हो गया, इसलिए मूल भौतिक द्रव्य
ब अणु नही वरन् ऊर्जा जैसी कोई वस्तु माननी होगी । न्यूटन की देश–काल
की व्याख्या भी वैज्ञानिको मे मान्य नहीं रही है। अतः भौतिकवादी दार्शनिको
को वैज्ञानिक खोजों को स्वीकार करते हुए अपने विचार बदलने पड़ते हैं। फिर
उनके कुछ सिद्धान्त स्थिर है।

भौतिक द्रव्य की सामान्य विशेषतायें

आज के भौतिकवादी भौतिक द्रव्य की निम्नलिखित विशेषताये स्वीकार करते है—

(१) **संसजन और असंजन**—एक ही पदार्थ के विभिन्न अणुओ के बीच तथा अणुओं के अंश भी आपस मे ससजन बल से जुडे रहते हैं, जैसे लोहे के कण एक साथ मिलकर लोहे की छड़ बनाते है। विभिन्न पदार्थ भी ऐक दूसरे से जुड़ सकते हैं। इनके बीच आकर्षण का बल आसंजन कहलाता है। लड़की के दो टुकडे फैवीकोल से जुडे रहते है।

(२) **विस्तार**—भौतिक द्रव्य अणु हों या उससे निर्मित वस्तु हो वह कुछ जगह घेरती है। कोई वस्तु जितनी जगह घेरती है वह उसका आयतन होता है। ताप आदि के प्रभाव से यह आयतन घट-बढ़ सकता है, किन्तु कोई वस्तु आयतन रहित नही हो सकती।

(३)**अभेद्यता**--एक वस्तु जितनी जगह घेर लेती है उसमे दूमरी वस्तु नही समा सकती। पानी से भरे एक गिलास मे कुछ लोहे के छर्रे डालो। छर्रे पानी की जगह घेरते जायेग और पानी गिलास के बाहर जाने लगेगा। इस नियम को भौतिक द्रव्य की अभेद्यता कहते है।

(४) **संपीड्यता**—कोई वस्तु अनेक भौतिक अणुओ के ससजन से निर्मित होती है किन्तु कही-कही अणुओ के बीच मे रिक्त स्थान भी होता है जहाँ वायु हो सकती है। ऐसी वस्तु पर बाहरी दवाव डाल कर उसका आयतन कम किया जा सकता है। इसे वस्तु की सपीड्यता कहते है।

(५) **घनत्व**—सपीड्यता से वस्तु का आयतन घटता है और उसका घनत्व बढता है। ऐक इकाई आयतन मे वर्तमान उस वस्तु की मात्रा को घनत्व कहते है। एक घन सेंटीमीटर लकडी के टुकड़े की अपेक्षा एक घन सेंटीमीटर लोहे के टुकड़े का घनत्व अधिक होता है। यह भी भौतिक द्रव्य की एक विशेषता है

(६) **विभाज्यता**—भौतिक द्रव्य को तोड़कर, रगडकर या रेत कर छोटे-छोटे कणों में विभाजित कर सकते है। अणु और परमाणु उनसे भी छोटे होते हैं यह विभाज्यता भी भौतिक पदार्थ का एक गुण है।

(७) रंध्रता–भौतिक पदार्थों के अन्दर अगणित अणुओं का झुण्ड होता है। उस झुण्ड के बीच कुछ रिक्त स्थान होता है, उसे उस वस्तु की रंध्रता कहते है। इन रध्रों मे वायु या जल जैसे पदार्थ प्रविष्ट हो जाते है। पानी मे भीगी लकडी अपने रध्रों मे जल लिए रहती है। सूखने पर जल वाष्प बनकर निकल जाता है। लकडी मे रंध्रता रहने पर ही यह सम्भव होता है।

(८) लचीलापन—भौतिक पदार्थों पर बल पडने पर वे झुक सकते हैं और बल हटने पर वे फिर सीधे हो जाते है। लोहे की छड या पेड की टहनी मे यह गुण स्पष्ट देखा जा सकता है। कुछ वस्तुओं में यह लचीलापन कम होता है।

भौतिक द्रव्य ठोस, तरल और गैस रूप मे होते है और उनके कुछ गुण भिन्न होते है। प्रत्येक वर्ग के द्रव्य भी अनेक प्रकार के होते है। उनके अपने गुणो के कारण ही उनका भेद होता है।

भौतिक द्रव्य की संरचना

भौतिक द्रव्य की सरचना का प्रश्न विज्ञान सबन्धी है। वैज्ञानिक लोग इसके परीक्षण मे निरन्तर लगे है। वे निरन्तर अधिक गहराई तक पहुँचने का प्रयास कर रहे है। उनके ज्ञान की वृद्धि के साथ भौतिकवादियो की धारणाये भी बदलती रहती है। भारत मे सम्भवत: सबसे पहले महर्षि कणाद ने बताया था कि भौतिक द्रव्य अति सूक्ष्म कणो से बने हैं। उन्हे परमाणु कहते है। वे अविभाज्य है। जैन–दर्शन मे भी यही स्वीकार किया गया। परमाणुओं के मिलने से सघात या स्कंध बनता है और उनसे पदार्थो की रचना होती है। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व यूनान मे डेमोक्रीटस और ल्यूसीपस ने भी इसी प्रकार का सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। उनके इस ज्ञान का आधार साधारण वैज्ञानिक जानकारी और बहुत कुछ अनुमान था। उनमे से कुछ दार्शनिक सभी परमाणुओ को एक समान समझते थे और कुछ पृथ्वी जल आदि के परमाणुओं में गुण भेद करते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी तक डाल्टन और प्राउट जैसे वैज्ञानिक परमाणु को अविभाज्य मानते रहे और उनके गुणों की एकरूपता या विरूपता पर मतभेद करते रहे। १८९७ ई० में जे० जे० थामस ने परमाणु में इलेक्ट्रान के कणों की सत्ता सिद्ध की और गोल्डस्टाइन ने उनके साथ प्रोटानों के अस्तित्व को भी स्वी-स्वीकार किया। रदरफोर्ड ने बताया कि प्रोटोन कण परमाणु के केन्द्र मे स्थित होते है और इलेक्ट्रान उनके चारो ओर घूमते रहते है। १९३३ ई० में शैडविक ने भी खोज कार्य किया और परमाणु सरचना के ज्ञान मे वृद्धि की।

वर्तमान समय मे वैज्ञानिकों का मत है कि परमाणुओ की सरचना

इलेक्ट्रान, प्रोट्रोन और न्यूट्रोन से होती है। इलेक्ट्रान पर इकाई मात्रा ऋणावेश होता है प्रोट्रोन पर इकाई धनावेश होता है और न्यूट्रोन पर विद्युत का आवेश नही होता।

परमाणु के दो भाग होते है— केन्द्रक जिसमे प्रोट्रोन तथा न्यूट्रान स्थित रहते है और बाहरी भाग जिसमें इलेक्ट्रान बन्द कक्षों मे घूमते रहते है। इनकी तुलना सौर मण्डल से की जाती है। जैसे सूर्य के चारो ओर नक्षत्र परिक्रमा करते है उसी प्रकार केन्द्र के चारो ओर इलेक्ट्रान घूमते रहते है। अतः परमाणु स्थावर और गतिहीन न होकर ऊर्जा का पुंज होता हैं। ऊर्जा ही उनका सार तत्त्व है।

इस प्रकार हम देखते है कि भौतिक द्रव्य की सरचना के विषय में वैज्ञानिकों की धारणा समय-समय पर बदलती रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से हम क्रमशः विकसित होते हुए तीन सिद्धान्त पाते हैं। प्रारम्भ मे परमाणुवाद के अनुसार भौतिक द्रव्य परमाणुओं से बना माना गया। वे परमाणु गतिहीन और अविभाज्य माने जाते थे। मध्यकाल मे गत्यात्मक परमाणुवाद विकसित हुआ। इसके अनुसार परमाणु में गति भी निहित है। अपनी गति के कारण ही वे आपस मे मिलते है और अलग होते है। आधुनिक काल में परमाणु विभाज्य सिद्ध हो गया है। इलेक्ट्रान आदि उसके अंग है। ऊर्जा उसका सार है।

भौतिकवाद की विशेषताएँ

वैज्ञानिको के भौतिक द्रव्य सम्बन्धी विचार बदलते रहने पर भी भौतिकवाद के मूल सिद्धात मे विशेष अन्तर नही आया। भौतिक द्रव्य किसी भी रूप मे हो किन्तु मूल तत्त्व वही है। उसी से समस्त जगत और जीवन की व्याख्या की जा सकती है। जीवन कोई स्वतन्त्र तत्त्व नही है। वह भौतिक द्रव्य की क्रिया का ही परिणाम है।

भौतिक द्रव्य जड़ होने के कारण निष्क्रिय प्रतीत होता है किन्तु ऐसा नही है। गति उसका एक गुण है अथवा ऊर्जा उसका सारतत्त्व है। इस कारण पदार्थ में गति सम्भव होती है। गति के कारण परमाणु आपस मे मिलकर सघात की रचना करते हैं और उन संघातों से अनेक प्रकार की वस्तुयें निर्मित होती है। इनके गुण धर्म पृथक्-पृथक् होते है। प्राण, मन और चेतना भी भौतिक द्रव्य से उत्पन्न होते हैं। उनकी स्वतन्त्र सत्ता नही है। सभी के मूल मे भौतिक द्रव्य है।

भौतिक पदार्थ के गुण और कार्यों का निश्चित नियम है। इन नियमो को प्राकृतिक नियम कहते है। इसके द्वारा विश्व की रचना, विकास, विनाश आदि

की व्याख्या की जा सकती है। ये नियम स्वतः कार्य करते है। इनकी नियामक या संचालक कोई अभौतिक शक्ति नही है। इस प्रकार जो सिद्धान्त जड पदार्थो के प्राकृतिक नियमो से विश्व की व्याख्या करता है, उसे प्रकृतिवाद कहते है।

प्रकृति के नियमो का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिक कहलाते हैं। वे प्रकृति के नियम खोज कर उनका प्रयोग मनुष्य के लाभ के लिए करते है। दार्शनिक उन वैज्ञानिक नियमो का उपयोग सम्पूर्ण जगत और जीवन की व्याख्या हेतु करते है। इसलिए भौतिकवादी अपनी दर्शन–पद्धति को वैज्ञानिक और तर्कसगत मानते है।

वैज्ञानिको के अध्ययन का विषय जड जगत और चेतन प्राणी ही है। वे चेतना को प्रकृति का ही एक अग या उसका एक रूप मानते है। ईश्वर उनके विचार का विषय नही है क्योंकि कोई स्थूल या सूक्ष्म प्रयोग पद्धति उस पर कार्य नही करती। इसलिए भौतिकवादी दार्शनिक ईश्वर की सत्ता ही स्वीकार नही करने। वे अपने को अनीश्वरवादी कहते है।

भौतिकवाद मे ईश्वर के स्थान मे कार्य-कारण नियम विश्व का संचालक माना गया है। जब किसी वस्तु की उत्पत्ति या विनाश देखने मे आता है तो भौतिकवादी और वैज्ञानिक उसका कारण खोजते है और वह कारण भौतिक होना ही सम्भव मानते है। उनके अनुसार भौतिक घटनाओ का कारण भौतिक ही होता है। कोई अभौतिक सत्ता या ईश्वर इसका कारण नही हो सकता।

भौतिकवाद भौतिक जगत् को ही सत् और अस्तित्ववान मानता है। इसके अतिरिक्त स्वर्ग आदि कोई लोक नही है। यह जगत् स्वय अपनी सत्ता से विद्यमान है। इसकी सत्ता किसी चेतना पर, ज्ञाता पर या अनुभवकर्ता पर निर्भर नही है। इसलिए इस सिद्धान्त को वस्तुवाद या वास्तववाद भी कहते है।

प्रकृति के नियम कार्य-कारण सिद्धान्त से यन्त्रवत संचालित होते है। रात-दिन, गर्मी-सर्दी, प्राणियो का जीवन-मरण यन्त्र के समान होता है। इसके पीछे न कोई योजना है और न कोई उद्देश्य। योजना और उद्देश्य निर्धारित करने वाला कोई चेतन ईश्वर भी नही है। जगत् यन्त्र के समान चलने के कारण भौतिकवाद यन्त्रवाद का समर्थन करता है और इसकी गति प्रयोजनहीन होने के कारण इसे निष्प्रयोजनवाद की सज्ञा देता है।

भौतिकवाद की मुख्य विशेषता जड़वाद है। इसके अनुसार समस्त चराचर जगत की उत्पत्ति जड़ पदार्थो से ही होती है। किसी भी वस्तु का विश्लेषण करें तो अन्त मे हम जड परमाणु ही पाते है। उनका स्वरूप कुछ भी हो किन्तु वे जड़ हैं और उन्ही से जगत की सब वस्तुये निर्मित हुई है। जड़ पदार्थ नित्य हे, किन्तु उससे निर्मित वस्तुय अनित्य हैं। जब किसी एक ढग से मिलते हैं

तो पत्थर आदि जड वस्तुयें उत्पन्न होती है और वही परमाणु जब किसी दूसरे प्रकार मे मिलते है तो वृक्ष, कीट, पशु, पक्षी, आदि चेतन प्राणी बन जाते है। प्राणतत्त्व की न स्वतन्त्र मत्ता है और न उसके अपने विशेष प्रकार के परमाणु है। वस्तुतः भौतिकवाद के अनुसार जडता, प्राण या चेतना मे कोई मौलिक भेद नही है। उनमें केवल परमाणुओं के संयोग का भेद है।

भौतिकवाद की चिन्तन प्रक्रिया विश्लेषणवादी है। इस मत के प्रतिपादक वैज्ञानिकों की भाति बाह्य जगत का विश्लेपण करके मूल तत्त्व तक पहुँचने का प्रयास करते है। विश्लेषण के द्वारा उन्हे जो परमाणु मिलते है उन्ही के द्वारा वे विश्व की उत्पत्ति मानते है उत्पत्ति मे प्रकृति के कुछ नियम कार्य करते हे, इसलिए वे नियम भी भौतिकवादी दार्शनिको की चिन्तन प्रक्रिया मे सहायक होते है। अतः चिन्तन प्रक्रिया की दृष्टि से यह दर्शन पद्धति विश्लेषण-वादी है।

भौतिकवादी दार्शनिक समाज की संरचना और मनुष्यो के आपसी व्यवहार की व्याख्या भी मानवी प्रकृति के नियमो से करते हैं। मनुष्यो के व्यवहार और सम्बन्ध उनके व्यक्तिगत सम्पर्क से होते है और व्यक्ति भौतिक द्रव्य का समुच्चय है। इसलिए समाज भी भौतिक और प्राकृतिक सम्बन्धों का संगठित रूप है यद्यपि समाज मे भावात्मक सम्बन्धो का बाहुल्य रहता है, व्यक्तियो के बीच राग-द्वेष की भावनाये रहती है किन्तु उन सब का मूल कारण भौतिक पदार्थ ही हैं।

भौतिकवादी समाज मे नीतिशास्त्र भी उसी के अनुकूल मान्य है। उसमे शारीरिक और इन्द्रिय सुख ही प्रधान माना जाता है। इसे भौतिकवादी सुख वाद कहते है। विचारवान भौतिकवादी कुछ सयम और परहित का भी ध्यान रखते है। वह अधिक समय तक निर्बाध रूप से सुख भोगने मे सहायक होता है।

इस मत के अनुसार मनुष्य को अपना सारा जीवन शारीरिक सुख पाने के और भोगने के प्रयास मे लगा देना चाहिये। यही उसके जीवन का चरम लक्ष्य है। मरने के बाद शरीर परमाणुओं मे विघटित हो जाता है और जीवन दीपक की भाँति बुझ जाता है। यही उसका निर्वाण है। मरने के बाद स्वर्ग, नरक या मुक्ति की कल्पना निराधार है। देवताओ की आराधना और पूजा मे समय नष्ट करना मूर्खता है। उससे इस लोक या परलोक मे कुछ भी मिलने वाला नही है। वह एक प्रकार से आत्म प्रवचना है। कुछ चतुर लोगों ने अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए समाज में परलोकवादी धर्म का मिथ्या प्रचार कर रखा हैं। विचारवान मनुष्यो को उनसे सावधान रहना चाहिए।

भौतिकवाद के समर्थन में तर्क

यद्यपि यह समझा जाता है कि भौतिकवाद विचारहीन व्यक्तियों का दर्शन है, उसके सिद्धान्तो का आधार कोई तर्क या प्रमाण नही है, किन्तु अब यह बात सत्य नही है। प्राचीन काल मे भले ही यह दर्शन मनुष्य की साधारण मान्यताओं पर अवलम्बित रहा हो, किन्तु समय के साथ अनेक आघात सहकर इसने अपनी रक्षा मे एक सुदृढ कवच तैयार कर लिया है। ससार के अगणित वैज्ञानिक उसकी सहायता कर रहे है। भौतिक विज्ञान, मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र के विकास के साथ भौतिकवाद भी इतना समर्थ हो गया है कि वह अपने ऊपर किये गये आक्षेपो का उत्तर दे सकता है। उसके उत्तर दो प्रकार के है— एक, वैज्ञानिक आधार पर अपने मत का समर्थन और दूसरे तर्क, द्वारा अन्य मतों का खण्डन।

अपने मत के समर्थन मे भौतिकवादी वैज्ञानिक खोजे उद्धृत करते है। वैज्ञानिको का मत है कि आदि काल मे जब यह सृष्टि नही थी उस समय आकाश मे गैस पुज भरा हुआ था। वह बहुत गर्म था और आकाश में निरन्तर घूमा करता था। वह जड पदार्थ था। उसने कालान्तर मे नीहारिका रूप ले लिया। नीहारिका की प्राक्कल्पना सन् १७९६ मे लाप्लास नामक वैज्ञानिक ने की थी। उसका विचार था कि नीहारिका अपने कक्ष में निरन्तर घूमते रहने पर कुछ ठडी हुई और ठोस रूप धारण करने लगी। उसके विभक्त अश जलते हुए तप्त ग्रह बन गये। हमारा सूर्य मण्डल उन्ही मे से एक है। हमारी पृथ्वी उसी सूर्य का टूटा हुआ एक भाग है। यह धीरे-धीरे ठंडी हुई और इसके ऊपरी धरातल पर पर्वत, नदियाँ, समुद्र और मैदान बन गये। भूमि के भीतर अब भी गर्म तरल पदार्थ भरा है।

भूमि के ऊपरी तल पर गर्मी–सर्दी और जल का उपयुक्त अनुपात बन जाने पर घास-पात, पेड–पौधे और कीट पतग उत्पन्न हुए। इस प्रकार प्राण और जीवन भौतिक पदार्थ का ही विकसित रूप है। चेतना कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है जो कभी पृथ्वी पर अवतरित हुई हो। वैज्ञानिकों का यह मत भौतिकवादी दर्शन का तर्कीय आधार है।

भौतिकवाद ऊर्जा संरक्षण का सिद्धान्त स्वीकार करता है। इसके अनुसार ब्रह्माण्ड में ऊर्जा का एक नियत परिमाण है। ऊर्जा अपना रूप बदला करती है किन्तु वह नष्ट नही होती। ऊर्जा न घटती है और न बढती है। जितनी मात्रा मे ऊर्जा है उसके अतिरिक्त नई ऊर्जा उत्पन्न भी नही की जा सकती। यदि चेतना को एक अभौतिक पदार्थ मान लें और उसका प्रभाव भौतिक ऊर्जा पर स्वीकार करे तो ऊर्जा संरक्षण का नियम बाधित होता है। इसलिए संसार मे एकमात्र

भौतिक द्रव्य की ही सत्ता है। चेतना उससे पृथक वस्तु नही है।

अपने शरीर मे हम देखते हैं कि अन्न, जल आदि भौतिक पदार्थों से शारीरिक शक्ति बढती है और मस्तिष्क परिपुष्ट होने पर बुद्धि बल बढता है। यदि जीवन-ऊर्जा या चेतना की स्वतन्त्र सत्ता हो, तो वह शरीर के घटने-बढने से प्रभावित नही होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त हम देखते है कि मानसिक सवेगों का और उसकी इच्छाओं का प्रभाव शरीर पर पडता है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि चेतना भौतिक तत्व का ही एक अग है। यदि चेतना और जड वस्तु दो पृथक् वस्तुये हों तो दोनो एक दूसरे से अप्रभावित रहेंगी और हमारी इच्छाओ के अनुसार शरीर संचालित न हो सकेगा।

हमे अपने अनुभव से भी शरीर के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ का अनुभव नही होता। हमारे अन्दर दो व्यक्तित्व नही है। मन और शरीर दो सत्ताओं की प्रतीति नही होती है। हमारी मानसिक चेतना जब काम नही करती और वह शरीर मे लीन हो जाती है तो वह मरण अवस्था कहलाती है। शरीर नष्ट होने के बाद मन या जीव की स्वतन्त्र सत्ता न अनुभव मे आती है और न अन्यत्र कही देखी जाती है। इससे सिद्ध होता है कि भौतिक तत्त्व के अतिरिक्त कुछ नही है।

व्यवहारवादी आधुनिक मनोवैज्ञानिक मनुष्य की सब क्रियाओं को शरीर के आधार पर ही सिद्ध करते है। शारीरिक क्रियाओं और विकारों के अनुकूल ही मन भी काम करता है। हमारी इच्छाये भी शारीरिक दशाओं पर निर्भर करती है। हमारे स्नायु-मण्डल की प्रक्रिया ही मन मे सुख-दुःख का अनुभव कराती है। इससे भौतिकवाद ही परिपुष्ट होता है।

जीवन के उच्च मूल्य और आदर्शो का निर्धारण हम प्रायः अपनी आवश्यकताओं के आधार पर करते है। आवश्यकताये हमारी व्यक्तिगत हो सकती है और सामूहिक भी। किन्तु ये सब आवश्यकताये भौतिक शरीर से सम्बध रखती हैं। हमे किसी अभौतिक वस्तु की आवश्यकता नही होती। इस प्रकार हमारे जीवन-मूल्य भी भौतिकवाद के समर्थक हैं।

विकासवादी मत के अनुसार जीवन की उत्पत्ति जड वस्तु से हुई है और इस दिशा में निरन्तर विकास हो रहा है, कार्य कारण नियम से मनुष्य हर नयी पीढी मे पहले की अपेक्षा उत्कृष्ट बनता आ रहा है। उसके मस्तिष्क के विकास के साथ उसकी बुद्धि विकसित हो रही है। इससे विदित होता है कि भौतिक तत्त्व ही विकसित होकर सूक्ष्म बुद्धि का रूप धारण करता है।

भौतिकवादी चिन्तन परम्परा

भौतिकवाद की यह चिन्तन-धारा विश्व में सदा सर्वत्र प्रवाहित रही है। अन्य सभी चिन्तन-धारायें इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न और विकसित हुई प्रतीत होती है क्योंकि उन सब मे इसके किसी न किसी पक्ष का खण्डन अवश्य मिलता है। अध्यात्मवाद या वेदान्त के अतिरिक्त लगभग सभी चिन्तन प्रक्रियाओ में भौतिकवाद के कुछ तत्व विद्यमान रहे है। अध्यात्मवाद ही एक ऐसा दर्शन है जो सब प्रकार से भौतिकवाद के बिल्कुल विपरीत है। इसके चिन्तन जगत मे भौतिकवाद एक भूत की तरह हुंकार भरता रहता है और उसके भय से बचने के लिए अध्यात्मवादी उसे मिथ्या कह कर टालते रहते है।

भारत एक अध्यात्म प्रधान देश कहा जाता है किन्तु इसका तात्पर्य इतना ही है कि यहाँ आध्यात्मिक चिन्तन धारा बड़े वेग के साथ सदियो तक बही है। इस क्षेत्र मे अनेक दार्शनिक हुए है और बहुत से ग्रन्थो की रचना हुई है। उसे एक जीवन दर्शन के रूप मे भी कुछ लोगो ने स्वीकार किया है किन्तु इसका यह अर्थ नही कि यहा से भौतिकवाद के पैर उखड गये और अधिकाश जन समुदाय ने आध्यात्मिक जीवन-दर्शन ही स्वीकार कर लिया। स्थिति इसके विपरीत है। अध्यात्मवाद का प्रभाव बहुत कम रह गया है। विज्ञान के बढते हुए प्रभाव से भौतिकवाद को बल मिला है आधुनिक चिन्तको ने इसे अधिकाधिक व्यवस्थित बनाया है और इस पर किए आक्षेपों का प्रबल युक्तियों से खण्डन किया गया है। अधिकाश व्यक्तियो ने इसे अपना जीवन-दर्शन स्वीकार किया है।

अब हम पूर्व और पश्चिम मे हुए भौतिकवादी चिन्तन के इतिहास पर एक दृष्टि डालकर वर्तमान काल में उसके विकसित रूप का विवेचन करेगे।

२

आदि कालीन भारतीय भौतिकवाद

विश्व का सबसे प्राचीन लिखित साहित्य ऋग्वेद है। अनुमान से इसकी रचना ईसा पूर्व २००० के लगभग हुई थी। उसके पूर्व भौतिक या आध्यात्मिक किसी प्रकार के ज्ञान की स्थिति जानना कठिन है। इसलिए हम ऋग्वेद के प्रार्थना भाग के रचना-काल को ही आदि काल मान सकते हैं। उस समय के भौतिकवादी विचारों को हम ऋग्वेद की प्रार्थनाओं से ही जान सकते हैं।

वेदों के ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद भागों की रचना क्रमश उत्तर काल में हुई प्रतीत होती है क्योंकि उनमें उत्कृष्ट और गम्भीर विचारों का समावेश है तथा पूर्व वर्णित विचारों और मान्यताओं का खण्डन भी है। किन्तु वेदों की सम्पूर्ण रचना ईसा से पाँच सात सौ वर्ष पूर्व अवश्य हो गयी थी।

वेदों में भौतिकवाद

ऋग्वेद के समान अन्य वेदों का भी प्रारम्भिक भाग प्रार्थना या मंत्र संहिता है। उनका मध्यभाग ब्राह्मण कहलाता है जिसमें कर्मकाण्ड का विधान बताया गया है। इन दोनों भागों मे दार्शनिक मत निरूपित करने का प्रयास नहीं किया गया है। आरण्यक और उपनिषदों मे ही दार्शनिक विवेचन मिलता है। किसी भी भारतीय विचारधारा की उपयुक्त व्याख्या करने के लिए ऋग्वेद के सूक्तों का अध्ययन आवश्यक समझा जाता है, क्योंकि परवर्ती काल के दार्शनिक विचारों के वही मूल स्रोत हैं। इसमे विभिन्न प्रकार के विचारों का संकलन मिल जाता है। वे विचार उस समय प्रचलित रहे होंगे। संभव है उन विचारों का उद्भव अनेक पीढ़ियों के मध्य हुआ हो। भाषा शैली से इतना स्पष्ट दिखाई देता है कि वे विचार सहज और स्वाभाविक हैं। उनमें कृत्रिमता की झलक नहीं मिलती।

ऋग्वेदीय सूक्तों की व्याख्या करते हुए कुछ विद्वानों ने उनमें ऐकेश्वरवाद और रहस्यवाद के तत्त्व देखे हैं। सायण आदि कुछ ऐसे भाष्यकार भी हुए हैं जो उनमें वर्णित अग्नि, इन्द्र आदि देवों की व्याख्या भौतिकपरक करते हैं।

आधुनिक योरोपीय विद्वान भी भौतिकवादी व्याख्या के पक्ष मे है। उनके मत से उन देवताओं की प्रार्थना प्रकृति पूजा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्रकृति की अद्भुत शक्तियों से आकृष्ट और चकित होकर तत्कालीन पुरुष उसकी पूजा करने लगे।

उनकी प्रार्थनाओं अथवा उद्घोषो मे उनकी भौतिकवादी भावनायें स्पष्ट परिलक्षित होती है। वे इन्द्र को सोमपान कर नाचते हुए, मरुत को तलवार घुमाते हुए यज्ञ मे मांस भक्षण करने वालों का और लिंग पूजकों क चित्रण करते है। ब्राह्मण मांस–मदिरा का त्याग कर संयमित जीवन जीने को उत्तम मानते हैं। इससे ज्ञात होता है कि अन्य लोग भोगमय जीवन अवश्य जी रहे थे।

वैदिक मन्त्रो के गायक स्वयं धन सम्पत्ति और भोगों की कामना करते थे और देवताओं से उनकी पूर्ति हेतु प्रार्थना करते थे।[1] धन और पशुओं की कामना तो बार–बार की गयी है किन्तु आत्मज्ञान या मुक्ति की कामना का उल्लेख नही मिलता। इससे सिद्ध होता है कि प्रकृति ही उनके लिए परम तत्त्व था और इन्द्रिय भोग ही जीवन का लक्ष्य। देवता प्रकृति के ही पुरुषाकार रूप हैं।

उपनिषदों में भौतिकवाद

वेदों के मन्त्र भाग मे दर्शन के जो सूक्ष्म बीज थे वे ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदो मे विकसित हुए है। एक ओर उनमे अध्यात्मवाद का विकास हुआ है तो दूसरी ओर भौतिकवाद का भी विकास हुआ। ब्राह्मण भाग में यज्ञो के द्वारा लौकिक कामनायें पूर्ण करने की विधा विकसित की गयी। यह एक प्रकार का विकसित भौतिकवाद है। इसमे यज्ञ नाम की ऐसी भावना जाग्रत करने का प्रयास किया गया जिसमे कई व्यक्ति मिलकर प्रकृति या उत्पादन के क्षेत्रो का दोहन करते है और अपनी उपलब्धियों को सबके बीच में यथायोग्य बाट लेते हैं। यह एक प्रकार का सहकारी आन्दोलन था। इसका उद्देश्य भौतिक सुख ही था, इसलिए यह भौतिकवाद के अतिरिक्त कुछ नही था।

किन्तु इसी काल मे परलोक भी विकसित हुआ और प्रकृति की अधिष्ठातृ रूप शक्तियों को देवता मानकर और देवताओं को ईश्वर का अंश मानकर एकेश्वर-वाद भी उत्पन्न हुआ। घोर भौतिकवादियों ने इस विचारधारा का विरोध किया और वैदिक परम्परा से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न करने लगे। आरण्यक और उपनिषदो में अध्यात्मवादियों ने इन भौतिकवादियों का स्मरण अपने विरोधियो के रूप मे किया। उनकी विचारधारा को तर्कहीन और छिछली सिद्ध किया है।

१- ऋग्वेद १ ६४ १५

साख्य सूत्रो मे स्वसम्वाद उपनिषद मे वर्णित भौतिकवाद का सार इस प्रकार उद्धृत किया है, " न कोई अवतार है, न ईश्वर या स्वर्ग नरक है, परम्परागत धार्मिक साहित्य मूर्खों की कल्पना है । इस जगत के नियन्ता प्रकृति और काल है । उन्ही से इनकी उत्पत्ति और विनाश होता है । मनुष्य के सुख दुख उसके पाप पुण्य के द्वारा नही प्राप्त होता । पण्डितो की लुभावनी बातो मे आकर मनुष्य मदिरो मे पूजा करने जाते है और भ्रान्ति मे पड़ते है ।"[1]

श्वेताश्वतर उपनिषद के ऋषि इस मान्यता की निन्दा करते है । वे कहते हैं, 'कुछ विद्वान प्रकृति और काल को ही जगत का कारण मानते है किन्तु सत्य यह है कि ईश्वर की महानता से ही ब्रह्म चक्र चल रहा हैं ।"[2] मैत्रेयी उपनिषद मे बृहस्पति और शुक्र का नाम लेकर कहा गया है कि वे शुभ को अशुभ और अशुभ को शुभ सिद्ध करने के लिए भ्रामक उपमाये देते है । वे आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नही करते ।

छान्दोग्य उपनिषद् मे कई भौतिकवादियो के मतो का उल्लेख मिलता है । उनमें उषस्ति, वक, रैक्व उद्दालक और विरोचन मुख्य है । हम इनकी मान्यताओ को संक्षेप मे प्रस्तुत करेगे ।

उषस्ति कुरुदेश का वासी था । एक बार वहाँ ओले और पत्थर पडने से खेती चौपट हो गयी । उसके कारण वह और उसकी पत्नी भूखो मरने लगे । अपनी क्षुधा निवृत्ति के लिए वह एक महावत के पास गया और उसके जूठे उडद मांगकर अपनी भूख निवृत्ति की ।

उसी समय उस देश का राजा यज्ञ करा रहा था । वहा से कुछ अन्न और धन प्राप्त करने के लिए उषस्ति यज्ञशाला मे पहुँचा और उद्गाताओ के समीप बैठ गया । प्रस्तोता स्तुतिया बोल रहा था, उद्गाता उद्गान कर रहा था और प्रतिहर्ता प्रतिहरण कर रहा था । उषस्ति ने उनसे कहा, 'तुम्हारे प्रस्ताव, उद्गान और प्रतिहार में अनुगत देवता कौन है , उन्हे जाने बिना यदि तुम यह कार्य करोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायेगा । " प्रस्तोता आदि को उसका ज्ञान नही था ।

राजा ने उषस्ति से कहा, "मैने आपकी खोज की किन्तु आप नहीं मिले तब मैने इनका वरण किया है ।" उषस्ति ने उस यज्ञ मे सम्मिलित होकर उसे विधि पूर्वक कराने का दायित्व इस आधार पर लिया कि जितना धन ऋत्विजो को दिया जायगा ऊसके बराबर उसे भी मिलेगा ।

यज्ञ प्रारम्भ के साथ उषस्ति ने बताया कि प्रस्तवन का देवता प्राण, उद्गीथ का आदित्य और प्रतिहार का अन्न है ।

1- Dale Riepe, The Naturalistic Tradition in Indian Thought P.26

२ उपनिषद ६ १

इस आख्यायिका मे ज्ञात होता है कि प्राण (वायु), आदित्य (अग्नि) और अन्न ही वे मूल तत्त्व है जिन्हे उपस्ति परम तत्त्व मानता है। उनकी महिमा के कारण वह उन्हे देवता कहता है। उसके जीवन का उद्देश्य प्रचुर धन और अन्न प्राप्त करना है। इसके लिए वह ऋत्विजो को और राजा को धमकी भी देता है। इस कार्य मे उसे सफलता मिलती है इसलिए वह अपने मत को श्रेष्ठ और यथार्थ मानता है। स्पष्टत वह शुद्ध भौतिकवादी विचारधारा है।[1]

बक के उपाख्यान मे अन्न और धन की कामना से देवताओं का स्तवन करने वालो का उपहास किया गया है। वैदिक काल में बक नाम का एक ब्रह्मचारी था। वह स्वाध्याय के लिए गॉव के बाहर एक जलाशय के निकट गया। वहाँ उसने एक श्वेत कुत्ते को देखा। उसके पास दूसरे कुत्ते ने आकर कहा—"भगवन् आप हमारे लिए अन्न का आगान कीजिए। हम भूखे है।" उन कुत्तों ने जिस प्रकार कर्म मे बहिष्पवमान स्तोत्र से स्तवन करने वाले उद्गाता परस्पर मिलकर भ्रमण करते है उसी प्रकार भ्रमण किया और फिर वहाँ बैठकर हिंकार करने लगे– "ॐ हम खाते है, ॐ हम पीते है, ॐ देवता, वरुण, प्रजापति, सूर्यदेव यहाँ अन्न लावें। हे अन्नपते ! यहाँ अन्न लाओ, अन्न लाओ।"[2]

इस वार्ता मे बक यह कहना चाहता है कि जैसे भूखा कुत्ता अपने मालिक से पूँछ हिलाते और भूकते हुये अन्न मागता है वैसे ही यज्ञ करवाने वाले उद्गाता देवताओं से भीख माँगते है। श्वेत कुत्ता ब्राह्मण का प्रतीक हो सकता है। इस प्रकार यज्ञो की भौतिकवादी प्रवृत्ति का और उसमे अनुगत पशु भावना का निदर्शन होता है।

भौतिकवादी विचारक रैक्व मुनि को भी भौतिकवादी ही मानते हे। शकराचार्य ने इन्हें अद्वैतवादी वेदान्ती माना है। रैक्व के आख्यान मे राजा जानश्रुति उसकी महिमा सुन कर उसके पास जाते है और उससे जानना चाहते है कि वह इतना तेजस्वी कैसे हुआ। रैक्व एक गाड़ीवान था। वह अपनी गाडी किराये पर चलाता था और उसी के नीचे रात्रि मे विश्राम करता था। वह गरीब था। उसे खाज की बीमारी थी। फिर भी वह शोक नही करता था।

उस रैक्व की तुलना में अपना तेज हीन जानकर राजा जानश्रुति दुखी था। वह अपने साथ भेट मे गौएं स्वर्ण रथ और अपनी पुत्री लेकर उसके पास गया। उस समय दुख से उसका मुख मलीन था। उसका दुःख निवारण करने के लिए रैक्व ने उसे सवर्ग विद्या का उपदेश किया।[3]

१- छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय १ खण्ड १०

२- वही, अध्याय खण्ड १२

३ वही अध्याय ४ खण्ड १

वह कहता है–"वायु ही संवर्ग है। जब अग्नि बुझता है तो वायु में ही लीन होता है, जब सूर्य अस्त होता है तो वायु मे ही लीन होता है। सब का सग्रहण कर लेने के कारण वायु सवर्ग है। इसी प्रकार अपने आप मे प्राण सवर्ग है। जिस समय वह पुरुष सोता है, प्राण को ही वाक् इन्द्रिय प्राप्त हो जाती है, प्राण को ही चक्षु, प्राण को ही श्रोत्र और मन प्राप्त हो जाते हैं। प्राण इन सब को अपने मे लीन कर लेता है।"

रैक्व के इस उपदेश से स्पष्ट है कि सब जगत मे व्याप्त वायु से ही सूर्य चन्द्र और अग्नि उत्पन्न होते तथा उसी मे लीन हो जाते है। वही मूल तत्त्व है। वही वायु स्वास बनकर हमे जीवन दे रही है। इसे हम प्राण कहते है। यही प्राण आत्मा है। इसी से समस्त इन्द्रियाँ और मन उत्पन्न होते है और इसी मे लीन हो जाते है। यह ज्ञान अनुभव सिद्ध है। मूल तत्त्व वायु और प्राण अथवा केवल प्राण होने के कारण यह मत भौतिकवाद ही है।

दर्शनशास्त्र के पश्चिमी विद्वान वाल्टर रूबेन के मतानुसार छान्दोग्य उपनिषद् का 'उद्दालक' एक व्यवस्थित और सुविचारक भौतिकवादी दार्शनिक है।[1] सन् ६४०–६१० ईसा पूर्व के मध्य उन्होंने उसका काल निर्धारण किया है। यदि यह समय सही है तो वह 'थेल्स' से भी पुराना भौतिकवादी दार्शनिक सिद्ध होता है। शकराचार्य आदि वेदान्तियो ने उसे अध्यात्मवादी माना है, और उसके द्वारा उपदिष्ट 'तत्वमसि' महावाक्य को अद्वैत वेदान्त का स्तम्भ स्वीकार किया है।

उद्दालक और उनके साथी — प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल किसी न किसी भौतिक तत्त्व मे अपनी आस्था रखते है। उसी को वे मूल तत्त्व मानते हैं। प्राचीनशाल द्युलोक को, सत्ययज्ञ आदित्य को, इन्द्रद्युम्न वायु को, जन आकाश को, बुडिल जल को और उद्दालक पृथ्वी को आत्मा मानता है और उसी की उपासना करता है। राजा अश्वपति इनकी मान्यताओं के समस्त तत्त्व मिलाकर 'वैश्वानर' नाम देता है और उसी को आत्मा मानता है।[2]

उद्दालक शिक्षक है। अपने पुत्र श्वेतकेतु को शिक्षा देता है। इसलिए उसके दार्शनिक विचारो का परिचय विस्तार मे मिलता है।

उसके मतानुसार मूल मे भौतिक तत्व एक ही है। उसी से अग्नि जल और अन्न उत्पन्न होते है। इसलिए उद्दालक एकत्ववादी भौतिकवादी है। पश्चिमी दार्शनिक लुक्रेशियस के समान वह भी मानता है कि असत् से कुछ भी

---

1. Quoted by Dale Riepe, The Neturalistic Tradition in Indian Thought P. 28

२ छान्दोग्य उपनिषद् अध्याय ५ खण्ड ११ १७

उत्पन्न नही हो सकता ।

मन, प्राण और वाणी की उत्पत्ति अन्न, जल और अग्नि से होती है। खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है। उसका अत्यन्त स्थूल भाग मल हो जाता है मध्य भाग मास हो जाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म होता है वह मन हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि मन अत्यन्त सूक्ष्म भौतिक पदार्थ है।

पिया हुआ जल तीन प्रकार का होता है। उसका स्थूल भाग मूत्र मध्य रक्त और सूक्ष्म भाग प्राण हो जाता है। घृत आदि अग्नि युक्त पदार्थ खाने पर स्थूल भाग से हड्डी, मध्य भाग से मज्जा और सूक्ष्म भाग से वाक् उत्पन्न करते है।

ससार के सभी पदार्थ अग्नि, जल और अन्न से ही निर्मित हैं। आदित्य का जो रोहित रूप है वह तेज का है जो शुक्ल रूप है वह जल का है और जो कृष्ण रूप है वह अन्न का है। इसी प्रकार चन्द्रमा और विद्युत में भी ये तीनों रूप विद्यमान है।

उद्दालक ने एक प्रयोग के द्वारा दिखाया कि अन्न से ही मन की उत्पत्ति होती है। उसने श्वेतकेतु को पंद्रह दिन अन्न नही खाने दिया। उसे केवल जल पिलाकर रखा। उसके बाद उसे वैदिक पाठ बोलने के लिए कहा। उसकी मानसिक शक्ति इतनी क्षीण हो गयी थी कि वह वेदपाठ नही कर सका। उद्दालक ने इस प्रयोग से यह निर्णय निकाला कि जिस प्रकार बहुत से ईंधन से प्रज्वलित हुए अग्नि का एक छोटा अगारा रह जाय तो वह अधिक दाह नही कर सकता, उसी प्रकार अन्न न खाने से मन बहुत क्षीण हो गया। क्षीण मन से वेद पाठ नही हो सकता।

यह उद्दालक की द्वन्द्वात्मक विधि है, जिसके द्वारा उसने अपने भौतिकवादी सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया।

छान्दोग्य उपनिषद् मे एक अन्य भौतिकवादी का नाम आता है। वह है विरोचन। उसके अनुसार शरीर ही आत्मा है। शरीर को गंधमान्य से सुसज्जित रखना है और उसे सुखी बनाना ही मनुष्य का कर्तव्य है। मरने के बाद आत्मा या जीव का कोई अस्तित्व नही रहता। यही मान्यता चार्वाक दर्शन मे भी है। उद्दालक भी श्वेतकेतु से कहता है कि तुम वह भौतिक सत् हो जिससे तुम्हारा शरीर, मन, प्राण आदि निर्मित हुए है। उसके विचारो में निश्चय ही कुछ गम्भीरता है। समाज मे उसकी मान्यता सैकडो वर्षों तक बनी रही।

किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि उपनिषदो के ये आचार्य जो प्रथम दृष्टि में भौतिकवादी लगते हैं उन्हें शुद्ध और निर्विवाद भौतिकवादी नहीं कह

जा सकता । शंकर और रामानुज के भाष्य देखने पर ज्ञात होता है कि विरोचन का देहात्मवादी भौतिकवाद अज्ञान के कारण है । उसने इन्द्र के समान ब्रह्मा से पूरा ज्ञान नही प्राप्त किया और न स्वयं शरीर की नश्वरता पर कभी विचार किया । जो लोग गुरु से अधूरा आत्मज्ञान ले भागते हैं उनकी वही दशा होती है जो विरोचन की हुई ।

शंकराचार्य उद्दालक को पूर्णतः अध्यात्मवादी मानते हैं । उनके अनुसार उद्दालक ने जिस सत् का प्रतिपादन किया है वह भौतिक जड़ वस्तु नहीं है । वह तो चेतन ब्रह्म है । इसके प्रमाण में वे 'ईक्षण' शब्द पर बल देते हुए कहते है, "इससे सिद्ध होता है कि सांख्य का कल्पना किया हुआ प्रधान जगत् का कारण नहीं है, क्यो कि प्रधान अचेतन माना गया है और यह सत् ईक्षण करने के कारण चेतन है ।"[1] शंकराचार्य के इस तर्क को अनदेखा नही किया जा सकता । वह किसी प्रकार से हलका भी नहीं है । इसीलिए उपनिषदों में पश्चिमी विद्वानों द्वारा माना गया भौतिकवाद शुद्ध रूप से चार्वाक का पूर्वगामी भौतिकवाद नहीं माना जा सकता ।[2]

अजीविक.

जैन और बौद्ध साहित्य अध्ययन करने पर कुछ ऐसे भौतिकवादियों का उल्लेख मिलता है जो महावीर और बुद्ध से मिले थे और उनके सामने अपने विचार व्यक्त किये थे । ये स्वच्छन्दता से विचरण करते थे और पाप–पुण्य मे विश्वास नही करते थे । ये उपक और आजीविक कहलाते थे ।

उपक की भेंट बुद्ध से उस समय हुई थी जब वे सिद्धि प्राप्तकर बोधगया से लौट रहे थे । उपक ने उनके शान्त और भव्य मुखमण्डल को देखकर उनसे उनका परिचय पूछा । जब बुद्ध ने उपक को अपने बोध का परिचय दिया, तो वह इतना कहकर एक ओर चल दिया, 'हो सकता है ऐसा हुआ हो ।'

आजीविकाओं मे मक्खलि गोसाल मुख्य है । उनके अतिरिक्त पाली ग्रन्थो मे कुछ नाम और मिलते हैं, जैसे पूर्ण कस्सप, अजित केसकम्बलि, पकुड कच्छायन, सजय बेलट्ठिपुत्त और निगंथ नातपुत्त ।

पूर्ण कस्सप का मत है कि जो मनुष्य स्वय कर्म करके अथवा दूसरे को कर्म कराकर किसी की हिंसा करता है , चोरी करता है, लूटता है या झूठ बोलता है तो वह कोई पाप कर्म नही करता । यदि कोई कुल्हाडी लेकर ससार के सब प्राणियों को काट-छाँट कर मास का ढेर बना दे तो भी वह पाप नही करेगा ।

१- छान्दोग्य उपनिषद् शा० भा० ६.२ पृष्ठ ५६६

2 Sr' K K M'ttal Mater'al sm in Indian Thought P 83

न्याय, क्षमा, दया, सच्चाई से भी कोई पुण्य नही होता है। उसका यह सिद्धान्त अक्रियावाद कहलाता था। उसकी ऐसी निकृष्ट शिक्षा मानने वाले भी लगभग अस्सी हजार अनुयायी थे।

अजित केसकम्बलि के विचार भी लगभग इसी प्रकार के थे। वह भी पुण्य पाप में विश्वास नही रखता था। उसे यज्ञ करने में भी कोई लाभ नही दिखाई देता था। उसके अनुसार मरने के बाद जीवन नही रहता है, किसी भी तपस्वी ने पूर्णता प्राप्त नही की है। मनुष्य चार तत्वों से बना है। मरने पर शरीर के वे तत्व अपने तत्वो मे मिल जाते हैं और इन्द्रियाँ आदि आकाश मे मिल जाती है। दान आदि पुण्य कार्य करने की शिक्षा देने वाले मूर्ख हैं। मरने के बाद मूर्ख और ज्ञानी एक ही घाट लगते है।

पकुड कच्छयन कुछ अधिक प्रबुद्ध है। सम्भव है उसने वैशेषिक मत सुना हो और उसके प्रभाव में अपना मत निर्धारित किया हो। वह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, सुख, दुःख और जीवन सात तत्वों की सत्ता मानता है। इनकी उत्पत्ति या विनाश नही होता। यदि किसी मनुष्य की हत्या की जाय तो ये सब तत्व अपने मूल तत्वों में मिल जाते है, किन्तु वे कोई भी नष्ट नही होते हैं।

निगन्थ नतपुत्त का उल्लेख बौद्ध ग्रन्थ दिछ्घ - निकाय में आता है। वह पाप-पुण्य और सयम मे विश्वास करता है। वह अपने को चार संयमों की सुरक्षा मे रखता है और सब पापों से बचा रहता है। पाप मुक्त होने के कारण उसका मन नियंत्रित, अचल और दृढ है।

संजय बेलत्थिपुत्त संशयवादी है। वह कहता है कि यदि कोई मुझसे पूछे कि परलोक है या नही, तो मैं यही कहूँगा यदि मै उसमें विश्वास करता तो कहता कि वह है। किन्तु मैं ऐसा नही कहता। न मै कहता हूँ कि परलोक है, और न मैं कहता हूँ कि वह नही है।

मक्खलि गोसाल सम्भवत सब से अधिक प्रभावशाली आजीविक था। वह महावीर और बुद्ध का समकालीन माना जाता है। वह ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व रहा होगा। उसके विचारो की जानकारी सब से अधिक जैन ग्रन्थ भगवती सूत्र से मिलती है। वहाँ वह महावीर स्वामी से वाद-विवाद करता है और पद पद पर परास्त होता जाता है। आजीविकों का सब से अन्तिम उल्लेख मल्लिसेन की 'स्यादवाद मंजरी' मे (१२९२) और जातक-परिजात मे (१४२५-४०) मे मिलती है। उनका सब से अधिक प्रभाव सम्राट अशोक (२७४-२३७ ई० पू०) के शासन काल मे रहा। उन्हे शासन की ओर से सुन्दर सजी हुई पर्वत-गुफाये रहने के लिये मिली थी। उसके बाद आजीविक धीरे धीरे जैन या शैव सम्प्रदायो

मे मिल गये । उनमे से कुछ चार्वाक के अनुयायी भी हो गये ।

गोसाल भी कर्म सिद्धान्त मे विश्वास नही रखता था । प्राणियों को पाप लगने का कोई कारण नही है । कुछ लोग अकारण ही अपने को पापी मानने लगते है । इसी प्रकार पुण्य का भी कोई कारण नही है । अपने को पुण्यवान मानना कल्पना मात्र है ।[1] कोई कर्म न पाप होता है और न पुण्य ।

किसी का भविष्य उसके कार्यों से निर्मित नही होता । मनुष्य मे ऐसी कोई शक्ति नही है कि वह अपनी इच्छानुसार अपना भविष्य बना ले । सब कुछ प्रकृति के अधीन है । एक नियत चक्र चल रहा है । मनुष्य उसी मे एक सूखे पत्ते की भाति घूम रहा है । कभी किसी स्थिति मे उसे सुख का अनुभव हो सकता है और कभी दुःख का । मनुष्य के सुख-दु:ख उसके हाथ मे नही । वह नियत के हाथो का खिलौना है । इस प्रकार गोसाल नियतिवादी है ।

कर्म का अपने समय के अनुसार फल अवश्य होता है । परिपक्व होने के पूर्व वह फल किसी प्रकार नही पाया जा सकता । किसी जप, तप, व्रत या उपाय से कर्म और उसके फल के प्राकृतिक नियम को बदला नही जा सकता । मनुष्य का सुख–दु.ख ही उसका संसार है । सुखी मनुष्य का सुखी ससार है और दुखी मनुष्य का दुखी ससार । उसका ससार बदल नही सकता । जीवन की अवधि भी घट बढ नहीं सकती ।

गोसाल तथा अन्य आजीविक अणुवादी है अजित चार और पकुड़ सात तत्वो मे विश्वास करता है, किन्तु ये सभी तत्व अणुओ से निर्मित है । सुख, दु ख और जीवन के भी अणु है । जीवन या चित् अन्य तत्वो के सघात का द्रष्टा है । अणु न बनते है, न नष्ट होते है और न उनके अन्दर कुछ प्रविष्ट हो सकता है । वे न बढ़ सकते है न घट सकते है । उनमे केवल दो गुण है । वे गति कर सकते है और आपस मे एक साथ मिल सकते है । अधिक सघनता से मिलने पर हीरा बन जाता है । कम सघनता से मिलने पर लकड़ी का रूप बन जाता है ।

एक विचार यह भी है कि अणु एक निश्चित सख्या मे मिलते हैं । पृथ्वी के अणु चार, जल के तीन, अग्नि के दो एक साथ मिलते है । वायु का एक अणु अलग एक ही रहता है । अणुओ के मिलने की सख्या के कारण ही उनकी स्थूलता और सूक्ष्मता दिखाई देती है । दो या अधिक अणु मिलने पर ही दृष्टिगोचर होते है ।

---

१ दिघ्घ निकाय १

आजीविको का यही प्रारम्भिक अणुवादी सिद्धान्त सम्भवतः बाद मे जैन, बौद्ध, नैयायिक आदि दार्शनिकों ने विकसित किया। इससे आजीविको की प्राचीनता का ज्ञान होता है और उन्हे सब से प्रथम एक नई दिशा मे स्वतन्त्र रूप से विचार करने का गौरव प्राप्त होता है। उन्होने ज्ञान-मीमासा पर अपने विचार व्यक्त नही किये। उन्होने कुछ विचार तो किया किन्तु विचार करने की प्रक्रिया की शुद्धता पर कोई विचार नहीं किया। इस दिशा में चार्वाक उनसे आगे है। उन्होंने अनुमान आदि का खण्डन कर प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना। उसमे कितना ही दोष हो किन्तु उन्होंने इस पर विचार अवश्य किया।

३

चार्वाक का भौतिकवाद

सन्देहवाद के बीज जब किसी दर्शन की उर्वरा भूमि मे अंकुरित हो जाते है, तो दूर करने के सतत् प्रयत्न के पश्चात् भी वे सर्वथा निर्मूल नही हो पाते और वृक्षरूप में बढकर तैयार हो जाते हैं। विचारो का झोंका सन्देह के बादलो को इधर–उधर बिखेरने मे कुछ क्षणों के लिए भले ही समर्थ हो जाय, किन्तु ज्यों ही उसका वेग कम होने लगता है, वे पुन: आकाश-मण्डल मे छा जाते है और गाढ तिमिर–पटल से ज्ञान–सूर्य को भी निगल जाने के लिए उतावले हो जाते है। भारतीय चिन्तन के इस युग के इतिहास पर दृष्टिपात करने से इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। भारतीय भौतिकवाद के मूल मे यही सन्देहवाद क्रियाशील था। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति ब्राह्मण पुजा-रियों के निवृत्ति पर अधिक बल देने के प्रतिक्रियास्वरूप ही हुई। मूर्तिवाद का बाह्य आकार जिसने पदार्थों को छोड़कर केवल छाया पर बल दिया, उपनिषदो का अध्यात्मवाद जो सामान्य जनता के लिए अनुपयोगी–सा रहा, उस काल मे सामाजिक तथा राजनैतिक विचारों मे उथल–पुथल, संकुचित राजाओ द्वारा जनता का शोषण करना, साधुओ तथा भिक्षुओ का धनी–मानी वर्ग का होना, अस्थाई समाज मे वासनाओ और लाभ विषयक तुच्छ मत–भेद, आदि ने उपनिषद काल के उपरान्त तथा बौद्धकाल के पूर्व भारत मे भौतिकवाद को जन्म दिया। किन्तु भारतीय दर्शन के इतिहास मे भौतिकवाद कभी भी इस देश मे शक्ति के द्वारा प्रयोग नही किया गया। असन्तोष से इसकी उत्पत्ति हुई और शीघ्र ही गहन चिन्तन मे इसकी समाप्ति हो गई। यद्यपि भौतिक रहन–सहन, इन्द्रिय-सुख के द्वारा आनन्द की प्राप्ति, आदि उतने ही प्राचीन हैं जितना कि मानव समाज, और सम्भवत. मानव समाज जब तक चलता रहेगा तब तक इसकी प्रवृत्ति भी रहेगी, किन्तु भौतिकवाद तत्त्व-दर्शन के रूप मे भारत मे कभी भी पूर्णरूप से पनप नहीं सका अथवा भारतीय दार्शनिक किसी भी काल मे इसके पूर्ण पक्षपाती नही रहे।

भारतीय दर्शन मे 'लोकायत', 'चार्वाक' अथवा 'बार्हस्पत्य' आदि भौतिक-

वाद की शाखाये सम्भवतः काफी प्राचीन है। 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' मे अनेक धर्मविरोधी मतो का सकेत मिलता है और उनमे से एक ऐसे सिद्धान्त का भी विवेचन किया गया है जो जड़ अथवा भूत पदार्थो को ही चरम सत् मानता है। लोकायत नाम भी काफी प्राचीन है। 'कौटिल्स-अर्थशास्त्र'[1] मे इसकी गणना साख्य और योग के साथ तार्किक विज्ञान (आन्वीक्षिकी) के रूप मे की गई है।

स्रोत और काल

'लोकायत' शब्द का प्रयोग दो प्रकार से किया जा सकता है— प्रथम विशेषण के रूप मे, जिसका अर्थ होता है ससार अथवा सामान्य जनता मे प्रचलित, और दूसरा पारिभाषिक रूप मे जिसका अर्थ होता है वाद–विवाद, वितण्डा और प्रलाप का विज्ञान। 'शुक्र-नीति मे उस समय पढे जाने वाले विज्ञान और कला का विशद् विवेचन किया गया है। इसी स्थल पर 'नास्तिक-शास्त्र' का भी संकेत आया है जो तार्किक युक्तियों मे बडे प्रौढ होते थे और उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु का अपने स्वभाव के अनुसार विकास होता है, कोई वेद अथवा ईश्वर नही है।[2] 'मेधातिथि' ने भी, 'मनु'[3] पर टीका करते हुए चार्वाको की 'तर्कविद्या' विद्या' का सकेत किया है। इस प्रकार प्राचीन ग्रथो मे जितने भी सकेत उपलब्ध होते है उनसे स्पष्ट मालूम होता है कि तर्क और वितण्डा आदि का एक पारिभाषिक विज्ञान (Techninal science) था जिसे 'लोकायत' कहा जाता था। सौभाग्य से ऐसा प्रमाण मिलता है कि 'कात्यायन' के समय (३०० वर्ष ई० पू० के निकट) मे 'लोकायत-शास्त्र' और उसका 'भाष्य' उपलब्ध था। ७-३-४५ से सम्बन्धित वार्तिक का एक नियम है—'वर्णक–तान्तवे उपसख्यानम्"—जिसका तात्पर्य है–'वर्णक' शब्द स्त्रीलिंग मे 'वर्णका' हो जाता है, जिसका अर्थ है कम्बल अथवा ओढ़नी (प्रावरण), और पतंजलि (१५० वर्ष ई० पूर्व के निकट) ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है कि केवल सूती या ऊनी ओढने के अर्थ मे 'वर्णक' शब्द की रचना को सीमित करने का उद्देश्य यह है कि अन्य अर्थो मे इसके स्त्रीलिग का स्वरूप, लोकायत पर 'भागुरी' टीका की भाँति, 'वर्णिका' या 'वर्त्तिका' (टीका अर्थ मे) हो जायगा— वर्णिका भागुरी

१- कौटिल्य, अर्थशास्त्र, १, १

२- युक्तिर्बलीयसी यत्र सर्व स्वाभाविक मत।
कस्यापि नेश्वरः कर्त्ता न वेदो नास्तिक हि तत्। शुक्रनीति–सार, ४, ३, ५५

३. मनुस्मृति–७, ४३

लोकायतस्य, वर्त्तिका भागुरी लोकायतस्य'।[1] अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 'लोकायत' नाम की एक पुस्तक अवश्य थी और ई० पू० १५० वर्ष से पहले भी कम से कम उस पर एक टीका निश्चित रूप से लिखी गई थी, अथवा यहाँ तक कि 'वार्तिक-सूत्रकार' कात्यायन जिनका सम्भावित समय ३०० वर्ष ई० पू० है, के पूर्व भी यह टीका उपलब्ध थी। सम्भवतः वाद-विवाद और वितण्डा अथवा हेतुवाद पर यह अति प्राचीन ग्रंथ है क्योंकि इससे पूर्व का कोई भी ऐसा ग्रन्थ नही मिलता जिसमें लोकायत को भौतिकवादी सिद्धान्तों से सम्बन्धित किया गया हो जैसा कि बाद के साहित्य मे उपलब्ध होता है और जहाँ 'चार्वाक' और 'लोकायत' मे तादात्म्य स्थापित कर दिया गया है।[2] कमलशील, जयन्त, प्रभाचन्द्र, गुणरत्न आदि सातवीं शताब्दी से चौदहवी शताब्दी के टीकाकारों ने अपनी टीकाओ मे अनेक सूत्रो का उद्धरण रूप मे उल्लेख किया है और इन्हे कुछ लोगो ने चार्वाक, अन्य ने लोकायत तथा गुणरत्न (१४ वी शताब्दी) ने बृहस्पति से सम्बन्धित किया है।[3] 'कमलशील' ने इन सूत्रों पर दो भिन्न-भिन्न टीकाओं का उल्लेख किया है जिनमे सिद्धान्ततः बहुत मामूली भेद है और जो 'न्यायमजरी' के 'धूर्त चार्वाक और 'सुशिक्षित चार्वाक' के विभागो के अनुरूप है। अतः यह निश्चित सा जान पडता है कि पतजलि और कात्यायन के पूर्व लोकायत पर कम से कम एक टीका अवश्य उपलब्ध थी और सातवी शताब्दी तक 'लोकायत' (चार्वाक-सूत्रो) पर दो टीकायें लिखी जा चुकी थी, जो दो भिन्न-भिन्न शाखाओ की व्याख्याओ का प्रतिनिधित्व करती थी। इसके अतिरिक्त श्लोको मे ही आया है कि एक ग्रन्थ था जिसे बृहस्पति की कृति माना गया है—और 'सर्वदर्शन-संग्रह मे 'चार्वाक दर्शन' के प्रतिपादन के लिए इसी ग्रन्थ से उद्धरण लिए गए है। अतः यह कहना कठिन है कि किस प्रकार और कब यह हेतुक विज्ञान अथवा वाद-विवाद की कला भौतिकवादी मतों तथा आचार के क्रान्तिवादी सिद्धान्तो से सम्बन्धित हो गई और बौद्ध, जैन तथा हिन्दू दर्शनों मे समान रूप से तिरस्कार की दृष्टि से देखी जाने लगी। प्रारम्भ मे इसका तिरस्कार केवल बौद्धो ने किया और कहा जाता है कि ब्राह्मणो ने शिक्षा की अनेक शाखाओ मे से एक सहायक

१- पाणिनि पर पतजलि का महाभाष्य-७, ३,४५, और इस पर कैयट की टीका।

२- तन् नामानि चार्वाक-लोकायतेत्यादीनि। षड्दर्शन समुच्चय' पर गुणरत्न की टीका, पृ० ३००। गुणरत्न के अनुसार लोकायत का तात्पर्य उन व्यक्तियो से है जो साधारण अदूरदर्शी लोगो की भाँति व्यवहार करते हैं-लोका निर्विचारा' सामान्या लोकास् तद्वद् आचरन्ति स्म इति लोकायता लोकायतिका इत्यपि।

३ वही पृ० ३०७ तत्त्व-संग्रह पृ० ५२०

शाखा के रूप मे इस विज्ञान को भी सीखा ।[१]

यह बात सर्वविदित है कि वाद-विवाद की कला का अभ्यास भारतवर्ष मे अति प्राचीन काल से चला आता है । 'चार्वाक - संहिता, (ईसा की प्रथम शताब्दी) जो एक अन्य प्रारम्भिक ग्रन्थ अग्नि वेश-संहिता' की आवृत्ति है, मे सर्वप्रथम इसका प्रामाणिक विवेचन उपलब्ध होता है, और जिसके द्वारा स्पष्ट पता चलता है कि ईसा की प्रथम अथवा दूसरी शताब्दी (यदि उसके पूर्व नही तो) मे इस प्रकार के वाद-विवाद प्रचुर मात्रा मे हुआ करते थे । इस प्रकार के वाद-विवाद और हेतु विद्या की कला का विवेचन 'न्याय सूत्र' में भी भली प्रकार किया गया है । आयुर्वेद और न्याय दोनो मे ही लोग दूसरों की युक्तियों से बचने के लिए अपने को इस विद्या में निपुण कर लेते थे । कथा वत्थु' में भी वाद विवाद की कला के व्यावहारिक उपयोग का विवेचन किया गया है । इसे हेतुवाद भी कहा जाता था और इसके अनेक सकेत 'महाभारत' मे आये है ।[२] महाभारत के 'अश्वमेध पर्व मे हेतुवादियो का जिक्र आया है जो तार्किक विवादो मे एक दूसरे को पराजित करने मे प्रयत्नशील रहते थे ।[३] सम्भवतः छान्दोग्य उपनिषद् मे वाकोवाक्य' शब्द का सकेत भी इसी वाद - विवाद की कला की ओर है ।[४] अतः वाद-विवाद का प्रयोग काफी प्राचीन है इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही है । इस सन्दर्भ से एक अन्य बात का जो सकेत मिलता है वह यह है कि, सम्भव. आस्तिक दर्शनो के इस सिद्धान्त, कि चरमतत्व का निश्चय केवल श्रुति ग्रन्थो के अधीन द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि अनुमान अथवा युक्ति द्वारा किसी अन्तिम निर्णय पर नही पहुँचा जा सकता, कारण कि जो कुछ एक तार्किक ने सिद्ध कर दिया है उसका खण्डन दूसरा तार्किक कर सकता है और फिर कोई अन्य तार्किक उसे भी अप्रतिष्ठित कर सकता है— के मूल में इस प्रकार के तार्किको अथवा हेतुवादियो का निषेधात्मक प्रभाव रहा हो जो किसी प्रतिष्ठित बात को भी असिद्ध सिद्ध कर देते थे तथा पुन. उसके सिद्धान्त का खण्डन अन्य तार्किक द्वारा हो जाता था और फिर किसी अन्य प्रौढ तार्किक द्वारा उसका खण्डन कर दिया जाता था ।[५] कुछ ऐसे लोग भी थे जो आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म अथवा

१- अगुत्तर, १, १६३

२- महाभारत, ३, १३०३४ ; ५, १९८३ ; १३, ७८६, इत्यादि

३- वही १४, ८५, २७

४- छा० उप, ७, १, २ ; ७, २. १, ७, ७, १

५- ब्रह्मसूत्र २, १, ११, तुलना कीजिए—तर्का प्रतिष्ठानाद् अप्यन्यथा-नुमानेम इति चेद एवम अपि अविमोक्ष प्रसग ।

पितृयान या देवयान के रूप मे अन्य जगत की सत्ता, वैदिक यज्ञो के औचित्य आदि इसी प्रकार के वैदिक सिद्धान्तो का युक्तियो द्वारा खण्डन करने का प्रयास करते थे, और इन्ही वेद-निन्दक तार्किको अथवा 'हैतुको' को 'नास्तिक' कहा जाता था। अतः मनु का कथन है कि वह ब्राह्मण, जो तर्क-विज्ञान अथवा हेतु-शास्त्र मे अधिक निष्ठा के कारण वेद और स्मृति की प्रामाणिकता को अनादर की दृष्टि से देखता है, नास्तिक है और वह साधु व्यक्तियो द्वारा बहिष्कृत है।[1] भागवत पुराण मे आया है कि किसी व्यक्ति को न तो वैदिक सम्प्रदाय का ही अनुसरण करना चाहिए, न तो पाखण्डी (यह बौद्ध और जैन लोगो के लिए संकेत है) ही होना चाहिए, और न 'हैतुक' होकर किसी पक्ष के समर्थन में शुष्क तार्किक विवादों मे ही पडना चाहिए।[2] मनु ने पुनः कहा है[3] कि पाखण्डियो, विकर्मस्थानियों वैडल व्रतिको और हैतुकों से बात-चीत भी नही करनी चाहिए।[4] अतः ये हैतुक प्रत्येक प्रकार के स्वतन्त्र वाद-विवादों मे भाग लेते थे। ये तार्किक, नैयायिक अथवा मीमासक, जो कभी-कभी हैतुक अथवा तर्की कहे जाते हैं, नही थे, क्योंकि वे लोग वैदिक सिद्धान्तो के अनुकूल तर्क प्रक्रियाओं का प्रयोग करते थे।[5] अत अब हम अपने प्रतिपाद्य विषय की ऐसी अन्य अवस्था पर पहुंचते है जहां देखते है कि 'हैतक' तर्क प्रक्रियाओ का प्रयोग केवल व्याख्याओ मे ही नही करते थे प्रत्युत वैदिक और सम्भवत बौद्ध सिद्धान्तों के खण्डन मे भी उनका उपयोग करते थे और इसीलिए वे वैदिक मतावलम्बियो तथा बौद्धो द्वारा तिरस्कार की दृष्टि से देखे जाते थे अत वाद-विवाद के हेतु शास्त्र और वैदिक अथवा बौद्ध मतो की समीक्षा का विकास ब्राह्मणों मे ही हुआ और ब्राह्मणों ने ही उसकी वृद्धि की। इसे मनु ने भी प्रमाणित किया है और बतलाया है कि ब्राह्मण लोग हेतु शास्त्र की शिक्षा ग्रहण करते थे[6] यह मत 'अगुत्तर'[7] तथा अन्य बौद्ध

१- योर्वमन्येत ते मूले हेतु शास्त्रा-श्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर वहिष्कार्यो नास्तिको वेद निन्दकः, मनु २। ११

२- वेद-वाद-रतो न स्यान् न पाषण्डीन हैतुक . शुष्क वाद विवादेन कंचित् पक्षम् समाश्रयेत्—भागवत, ११। १८। ३०

३- वही ४। ३०

४- मेधातिथि के अनुसार यहाँ हैतुक ही नास्तिक है जो परलोक अथवा याज्ञिक कर्मो मे विश्वास नही करते— "हैतुका नास्तिका नास्ति परलोको, नास्तिदत्तम, नास्तिहुतम् इत्येव स्थित प्रज्ञा।

५- मनु, १२। १११

६- वही २। ११

७ १। १६३

ग्रथो से साम्य रखता है।

अब यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ये नास्तिक कौन थे, क्या इन्हीं को हैतुक कहा जाता था ? पाणिनि के सूत्र ४।४।६० (अस्ति-नास्ति-दिष्ट मतिः) के अनुसार इस शब्द की रचना अनियमित रूप से हुई है। पतंजलि ने अपने महाभाष्य मे 'आस्तिक और नास्तिक' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जो व्यक्ति यह सोचता है कि "इसका अस्तित्व है" आस्तिक और जो इस प्रकार की धारणा रखता है कि 'इसका अस्तित्व नही है" नास्तिक कहलाता है। जयादित्य ने अपनी काशिका' टीका मे लिखा है कि जो व्यक्ति 'परलोक' के अस्तित्व मे विश्वास रखता है उसे आस्तिक', और जो इस प्रकार का विश्वास नही रखता उसे 'नास्तिक' तथा जो व्यक्ति केवल तार्किक निरूपण मे ही विश्वास रखता है, उसे 'दिष्टिक' कहते है।[1] किन्तु मनु की परिभाषा मे 'नास्तिक' का अर्थ वेद निन्दक ही लिया जाता है।[2] अत नास्तिक का प्रथम अर्थ जो पर-लोक अथवा मृत्योपरान्त जीवन को नही मानता, और दूसरा अर्थ है जो वैदिक सिद्धान्तों की निन्दा अथवा उसका खण्डन करता है। इन दोनो मतों में काफी साम्य मालूम पडता है, क्योंकि वैदिक सिद्धान्तों को न मानने का अर्थ है आत्मा की अमरता तथा यज्ञो की आवश्यकता को अस्वीकार करना। ऐसा मालूम पडता है कि नास्तिकों को यह सिद्धान्त— इस वर्तमान जीवन के उपरान्त कोई अन्य जीवन नही है और मृत्यु के साथ ही समस्त चेतना समाप्त हो जाती है—उपनि-षदों के समय मे ही प्रचुर मात्रा मे प्रतिस्थापित हो चुका था, और इस मत का खण्डन भी उपनिषदो मे किया गया है। 'कठोपनिषद्' मे आया है-नचिकेता ने यम से कहा कि लोगो मे इस विषय मे काफी संशय फैला हुआ है कि मरणोपरान्त व्यक्ति का अस्तित्व रहता है अथवा नही , और वह यम से इस विषय मे शिक्षा

१- परलोक. अस्तीति यस्य मतिरस्ति स आस्तिक, तद्विपरीतो नास्तिकः, प्रमाण नुपातिनी यस्य मति स दिष्टिकः। पाणिनि सूत्र ४।४।६० पर काशिका। जयादित्य का समय सातवी शताब्दी का प्रारम्भ है।

२- मनु०, २।११ मेधातिथि ने 'नास्तिका क्रान्तम्' (मनु ८।२२) की व्याख्या करते हुए लिखा है कि नास्तिक और लोकायत एक ही हैं जो परलोक मे विश्वास नही रखते- यथा नास्तिकैः पर लोका पवादिभिर् लोकायतिका-चैर् आक्रान्तम् किन्तु मनु ४। १६३ मे 'नास्तिक' का अर्थ उन्होने उस सिद्धान्त से लिया है जो वैदिक मत को मिथ्या बतलाता है-वेद-प्रमाणकानाम् मिथ्यात्वा ध्यवसा-यस्य नास्तिक्य शब्देन प्र

पाने की अत्यधिक जिज्ञासा प्रकट करता है।[1] आगे यमाचार्य ने उत्तर दिया कि वे लोग जो लोभ के कारण अंधे हो गए है वही केवल इसी लोक को सोचते है और परलोक मे विश्वास नही रखते और सतत् मृत्यु का शिकार होते रहते है।[2] 'बृहदारण्यक उपनिषद्' (२।४।१२. ४।५।१३) मे भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया गया है। याज्ञवल्क्य ने कहा— 'जिस प्रकार नमक की डील पानी मे डाल देने पर, उसमे विलीन हो जाती है, उसे पानी मे निकाला नही जा सकता, हे मैत्रेयी ! उसी प्रकार यह महान जीवन-शक्ति (चेतना) यह अनन्त, अपार, विज्ञान-धन आत्मा इन भूतो के साथ ही प्रकट होता है उनमे घुला मिला है और इन भूतो मे ही जा छिपता है। जब तक वह भूतो में प्रकट हो रहा है, तभी तक उसके नाम है, उसकी संज्ञा है, उसके यहाँ से चले जाने पर उसकी कोई सज्ञा नही रहती। यह रहस्य की बात है"।[3] जयन्त ने अपनी 'न्याय मञ्जरी' मे लिखा है कि लोकायत मत' ऊपर विवेचित अशो के समान सिद्धान्तो पर आधारित था जो केवल पूर्व पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है।[4] इसी स्थान पर जयन्त ने आगे कहा है कि लोकायत मत मे कोई भी कर्त्तव्य निर्धारित नही किया गया है ; यह कोई 'आगम' नही है प्रत्युत केवल वैतण्डिक वाद-विवादों (वैतण्डिक कथैवाऽसौ) की कथा है।

बौद्ध साहित्य मे भी 'नास्तिकों' के संकेत मिलते है। पी० टी० एम० पालि शब्द कोश मे 'नास्तिक' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा गया है कि जो व्यक्ति नत्थि' (सन्देहवादी) और नत्थिक-दिट्ठि' (सन्देहवाद) के सिद्धान्त का आदर्श रखता है, वही नास्तिक' है। बौद्ध ग्रंथो मे अनेक सन्देहवादियो का नाम आया है जिनमे से पूरनकस्सय, अजितकेश कम्बली आदि कुछ सन्देहवादियो का सामान्य परिचय अध्याय मे दिया जा चुका है।

'सूत्र कृताग सूत्र'[5] मे कुछ पाखण्डियों (शीलाक ने इन्हे और लोकायत को एक माना है।) का विवेचन किया गया है। उनका कहना है कि नख से

१- येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनु शिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥ कठ १।२०

२ न सांपरायः प्रतिभाति बाल प्रमाद्यन्त वित्तमोहेन मूढम।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥ वही, २।६

३- विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य. समुत्थाय तान्येवाऽनु विनश्यति न प्रेत्य सज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमिति होवाच याज्ञवल्क्य.। बृहदारण्यक० २।४।१२

४- तद् एवं पूर्व-पक्ष वचन मूलत्वात् लोकायत शास्त्रम अपि न स्वतन्त्रम्। न्याय मजरी, पृ० २७१, व० स० सीरीज, १८९५

५ २ १ ६ १०

शिखा तथा त्वचा तक ही आत्मा का स्थान है, जब तक शरीर है तभी तक आत्मा का भी अस्तित्व है, और शरीर से पृथक् कोई आत्मा नही है, अत. आत्मा का और शरीर मे तादात्म्य है, शरीर नष्ट होने पर (मृत्यु हो जाने से) आत्मा नही रहता। जब शरीर जल जाता है तो केवल श्वेत हड्डियो के अतिरिक्त कोई आत्मा दृष्टिगोचर नही होता। शरीर से पृथक् कोई आत्मा नही है जो दुःख का सहन करता हो, सुख का आनन्द लेता हो तथा मृत्योपरान्त परलोकगामी होता हो, क्योकि यदि शरीर को टुकड़ो मे भी काट डाला जाय तब भी कोई आत्मा उसी प्रकार दिखलाई नही पडता जिस प्रकार घडे के फूटकर अनेक टुकडो में बदल जाने पर भी उसमें किसी आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्षीकृत नही होता। अत लोकायतों का विचार है कि जीवित शरीर को मार डालने मे कोई पाप नही है क्योकि हथियार का किसी शरीर पर मारना अथवा भूमि पर मारना एक ही बात है। अतः ये लोकायत शुभ और अशुभ कर्मों मे कोई अन्तर नही समझते क्योंकि इन्हे कोई इस प्रकार का सिद्धान्त ही नही मालूम है जिस पर यह अन्तर निर्भर हो। इस प्रकार पुण्य-पाप का कोई नियामक सिद्धान्त न मानने के कारण इस इस सिद्धान्त मे नैतिक मान्यताओ का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसी ग्रथ मे दो प्रकार के नास्तिकों का सकेत मिलता है— साधारण नास्तिक और प्रगल्भ नास्तिक। इनमे बहुत मामूली अन्तर है। प्रगल्भ नास्तिको का कहना है कि यदि आत्मा शरीर से भिन्न होता तो उसका भी एक विशिष्ट प्रकार का रूप रग आदि होता, और क्योंकि इस प्रकार की कोई पृथक सत्ता नही है, अत. आत्मा का शरीर से अगल कोई अस्तित्व है, यह मान्य नही हो सकता। सूत्र कृताग सूत्र'[1] के अनुसार ये प्रगल्भ नास्तिक जगत के निष्क्रम्य (छोडने) पर बल देते थे और अन्य लोगो को भी अपने सिद्धान्त को स्वीकार करने की शिक्षा दिया करते थे। किन्तु 'शीलाक ने लिखा है कि लोकायत मत मे कोई दीक्षा का स्वरूप नही था, अतः उस शाखा मे कोई यति अथवा परिव्राजक नही मिल सकता। लेकिन अन्य शाखाओ के यतिओं जसे बौद्धो ने कभी-कभी अपनी प्रव्रज्या के पश्चात लोकायत का अध्ययन किया और उस मत को मानने लगे, तथा दूसरे लोगो को भी उसकी शिक्षा देनी आरम्भ कर दी।[2]

१- २ । १-६, पृ० २७७

२- यद्यपि लोकायतिकानाम् नास्तिदीक्षादिकं तथापि अपरेण शाक्यादिना प्रव्रज्याविधानेन प्रव्रज्या पश्चात् लोकायतिकम् अधीयानस्य तथाविध परिणते. तद् एवाभिरुचितम्। 'सूत्र कृताग सूत्र' पर शीलाक की टीका, पृ० २८० (अ) (निर्णयसागर से प्रकाशित) पृ० २८०-२८१ पर शीलाक ने लिखा है।

लोकायत नास्तिकों के सिद्धान्तों का निरूपण करने के उपरान्त 'सूत्र-कृतांग-सूत्र' में सांख्यों का विवेचन किया गया है। उसकी व्याख्या करते हुए शीलांक ने लिखा है कि लोकायत और सांख्य में बहुत मामूली अन्तर है क्योंकि यद्यपि सांख्य सिद्धान्त में आत्मा (पुरुषों) के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है फिर भी ये अक्रियाशील होने के कारण कार्य का सम्पादन नहीं कर सकते। समस्त व्यापार प्रकृति के द्वारा ही होते हैं और वह मूलरूप में पंचभूत ही है। अतः शरीर और मनस् पचभूतों के संयोजन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए पुरुषों की पृथक् सत्ता मानना नाम मात्र के लिए है क्योंकि इस प्रकार का आत्मा कुछ कर ही नहीं सकता, तथा साथ ही अकिंचित्कर है, अतः लोकायतों ने स्पष्ट रूप से उनके अस्तित्व का निषेध किया है। शीलांक ने आगे लिखा है कि लोकायतों की भाँति सांख्य मतावलम्बी भी जानवरों को कष्ट पहुँचाने में कोई दोष नहीं समझते, क्योंकि वास्तव में सभी जीवित पदार्थ पचभूतों के ही परिणाम है, जिसे आत्मा कहा जाता है वह किसी भी क्रिया में कोई रुचि अथवा हिस्सा नहीं ले सकता।[1] अतः शुभ और अशुभ कार्यों अथवा स्वर्ग और नरक के अन्तर के विषय में नास्तिकों और सांख्यों के सोचने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए समस्त प्रकार के सुखों की प्राप्ति ही उनका ध्येय हो जाता है। लोकायत नास्तिकों के विषय में 'सूत्र-कृतांग-सूत्रों' में इस प्रकार कहा गया है-'अत कुछ लज्जाहीन व्यक्ति संन्यास ग्रहण करके अपने नियमों का प्रचार करते है। और दूसरे लोग इस पर विश्वास करते है, इसमे अपनी श्रद्धा रखते है, इसको ऐसा कहते हुए स्वीकार करते है-हे ब्राह्मण ! (अथवा) हे श्रमण। आप सत्यभाषी है अतः हम लोग आपको भोजन, वस्त्र, कमण्डल आदि उपहारस्वरूप प्रदान करेंगे। कुछ लोग उनका आदर करते हैं और कुछ लोगों से आदर कराया जाता है। श्रमण बनने के पूर्व बिना घर-बार वाले दीन सन्यासी, पुत्र और सम्पत्ति विहीन रहते होंगे तथा अपनी जीविका के लिए दूसरों पर निर्भर होते होंगे। सन्यासी होने के पूर्व ये कोई पाप-कर्म न करने का व्रत लेते है, किन्तु सन्यास धारण करने के पश्चात् हर प्रकार के पाप करने के लिए उद्यत रहते है।'' ... ये लोग सभी प्रकार के ऐन्द्रिय सुखों और आनन्द का उपभोग करना चाहते है।

कि संसार का त्याग करते समय 'भागवत' तथा अन्य परिव्राजक प्रत्येक प्रकार के आत्म निग्रह करने की प्रतिज्ञा करते थे, किन्तु जैसे ही वे लोग लोकायत मत स्वीकार कर लेते थे। उसी समय से अनियन्त्रित जीवन व्यतीत करने लगते थे। फिर वे नील-पट धारण करने लग जाते थे।

1 वही पृ० २८१ २८३

तथा प्रेम और घृणा के दास होते है।"[1]

किन्तु 'सूत्र–कृताग–सूत्र के अतिरिक्त 'बृहदारण्यक', 'कठ' तथा 'छान्दोग्य' उपनिषदो मे भी लोकायत सिद्धान्त का सकेत मिलता है। 'छान्दोग्य उपनिषद' मे आया है कि असुरो का प्रतिनिधि होकर विरोचन प्रजापति के पास आत्मा के स्वरूप के विषय में शिक्षा प्राप्त करने के लिए उपस्थित हुआ और इस मत से ही, कि आत्मा और शरीर मे तादात्म्य है, सन्तुष्ट होकर चला गया। प्रजापति ने इन्द्र और विरोचन से कहा कि पानी के बर्तन मे तुम दोनो अपने को देखो और फिर आत्मा के विषय मे जो कुछ समझ न पड़े, वह मुझसे पूछो। उन्होने पानी के बर्तन मे देखा, प्रजापति ने पूछा, क्या दिखलाई पडता है ? उन्होने कहा भगवन् ! हमें अपना पूर्णरूप दृष्टिगोचर हो रहा है, लोम से नख तक, अपना प्रतिरूप, अपनी छाया। प्रजापति ने उनसे पुनः कहा—सुन्दर अलकार और वस्त्र धारण करके स्वच्छ होकर पानी के बर्तन मे देखो। उन दोनों ने वैसा ही किया। प्रजापति ने पूछा क्या दिखाई पड़ रहा है ? उन लोगो ने उत्तर दिया-भगवन् ! जिस प्रकार का हम सुन्दर अलकार और स्वच्छ वस्त्र आदि धारण किए हुए है, उसी प्रकार हम दोनो के प्रतिबिम्ब भी सुन्दर अलकार वाले, तथा सुन्दर और स्वच्छ वस्त्र धारण किए हुए है। प्रजापति ने कहा—जागृतावस्था में जिसे तुम देखते हो, यह 'आत्मा' है, यह 'अमृत' है, 'अभय' है, यह 'ब्रह्म' है। वे दोनों शान्त हृदय होकर चल दिए। उन्हे इस प्रकार जाते देखकर प्रजापति ने विचार किया कि ये दोनो 'आत्मा' को बिना उपलब्ध किए, बिना जाने जा रहे है। इन दोनो मे से जो कोई 'देह ही आत्मा है'—इस उपनिषद् के अनुयायी बनेंगे, वे पराजित हो जायेंगे। बाद मे इन्द्र इस उत्तर से असन्तुष्ट होकर लौट पड़े। किन्तु विरोचन तो शान्त–हृदय हो गया था और वह असुरो के पास पहुँचा। वह तो विरोचन था शरीर को रोचमान करने मे, सजाने बजाने मे ही उसका मन लगा रहता था। उसने असुरो को 'देह की आत्मा है'—इस उपनिषद् का उपदेश दिया। उसने कहा, कि जब देह ही आत्मा है तो इसी देह–रूप आत्मा की ही पूजा अथवा सेवा करनी चाहिए। इसी की पूजा और सेवा से मनुष्य इस लोक और उस लोक दोनो को प्राप्त कर लेता है। अत. आज भी जो व्यक्ति दान नही देता, किसी वस्तु के अस्तित्व मे श्रद्धा नही रखता यज्ञ नही करता उसे 'असुर' कहा जाता है। देह को आत्मा कहना 'असुरोपनिषद्' है। असुर लोग शरीर को गध–माला से सजाते हैं और समझते है कि 'इस लोक को जीत लिया' और मरने पर शरीर का वस्त्र–'अलकार' आदि से सस्कार करते है और समझते है

---

१ 'देखिए जैकोबी जैन–सूत्र' २ ३४१ ३४२

कि इस प्रकार उस लोक को भी जीत लिया ।[1]

'छान्दोग्य उपनिषद्' का यह अंश विशेष महत्व का है । इससे स्पष्ट पता चलता है कि आर्यों से पृथक् एक ऐसी जाति के लोग थे जिन्हे यहाँ असुर के रूप में विवेचित किया गया है । वे लोग मृत शरीर को इस विश्वास से सुन्दर वस्त्रों तथा बहुमूल्य आभूषणों द्वारा सजाते थे और उन्हे भोजन-सामग्री प्रदान करते थे, कि जब इन मृत शरीरों का मृत्योत्थान होगा तो ये इन वस्त्रों, आभूषणों तथा भोजन सामग्री से अन्य लोक मे सुखी रहेंगे, इन्ही लोगो का विश्वास था कि केवल शरीर ही आत्मा है, किन्तु 'छान्दोग्य उपनिषद्' में ही संकेत मिलता है कि लोकायतिको और इन देहात्मवादियों मे यह अन्तर है कि देहात्मवादी एक अन्य लोक के अस्तित्व मे भी विश्वास करते है जहाँ मृत शरीर पुनर्जीवित हो जाते है और मृत्यु के समय दिए गए वस्त्र आभूषण तथा भोजन-सामग्री द्वारा सुखी जीवन व्यतीत करते है । इस प्रथा को असुर प्रथा कहा जाता है । अतः हम कह सकते है कि सम्भवतः सुमेरी सभ्यता के पूर्व उस समय की प्रचलित प्रथा, मृत शरीर की सजावट और मृत्योपरान्त शरीर सहित जीवन की प्राप्ति के सिद्धान्त मे लोकायत मत के बीज अंकुरित हो चुके थे । आगे चलकर युक्तियों द्वारा यह तर्क उपस्थित किया गया कि क्योंकि आत्मा और शरीर मे तादात्म्य है, और मृत्योपरान्त शरीर जला दिया जाता है, इसलिए मृत्यु के उपरान्त किसी आत्मा आदि के अस्तित्व का कोई प्रश्न ही नही उठता । अतः मृत्यु के पश्चात् किसी अन्य लोक की कल्पना व्यर्थ है । 'कठ' और 'बृहदारण्यक' उपनिषदो मे हमको इस बात का प्रमाण पहले ही मिल चुका है कि कुछ ऐसे लोग थे जो मृत्यु के पश्चात् किसी चेतना आदि की सत्ता को नही स्वीकार करते थे और उनका विश्वास था कि मृत्यु-क्षण मे प्रत्येक वस्तु की परिसमाप्ति हो जाती है । अतः स्पष्ट है कि 'छान्दोग्य' के विवेचन के अनुसार शरीर ही आत्मा है, यह मत विरोचन को मान्य था और यही सिद्धान्त असुरों के मध्य प्रचलित मृत शरीर को सजाने की प्रथा मे भी उपलब्ध होता है ।

गीता मे इन असुरो के सिद्धान्तों का विवेचन इस प्रकार किया गया है—'असुर लोग कर्तव्य कार्य मे प्रवृत्त और अकर्तव्य कार्य से निवृत्त होना भी नहीं जानते, अतः उनमे न तो बाहर-भीतर की शुद्धि है, न श्रेष्ठ आचरण और न सत्य भाषण ही । उनका विचार है कि जगत् आश्रय रहित और सर्वथा झूठा एवं बिना ईश्वर के अपने आप स्त्री-पुरुष के संयोग से उत्पन्न हुआ है, इसलिए केवल भोगों को भोगने के लिए ही है । इस प्रकार इस मिथ्याज्ञान का अवलम्बन करके जिनका स्वभाव नष्ट हो गया है तथा जिनकी बुद्धि मन्द पड गई है, सभी जीवों का अप-

---

१ छा० उप० ८ ७ १ ५

करने वाले ऐसे क्रूरकर्मी मनुष्य केवल जगत् का नाश करने के लिए उत्पन्न होते है।'[1] लोभ दम्भ, मान और मद से युक्त होकर किसी प्रकार भी पूर्ण न होने वाली कामनाओ का सहारा लेकर तथा अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण करके भ्रष्ट आचरणो से युक्त होकर ससार मे जीवन व्यतीत करते है। वे मृत्यु-पर्यन्त रहने वाली अनन्त चिन्ताओ का आश्रय लेकर और विषय-भोगो को भोगने मे तत्पर रहकर इसी विचार को मानते है कि सांसारिक आनन्द का भोग करने के अतिरिक्त कुछ नही है। अतः आशारूप बन्धनो से बँधे हुए और काम-क्रोध मे सलग्न रहकर, विषय भोगो की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक धन आदि बहुत सी भोग की वस्तुओ का सग्रह करने की चेष्टा मे रत रहते है। उन पुरुषो के विचार इस प्रकार के होते है कि, मैंने आज इसका अर्जन किया, मेरा यह मनोरथ सिद्ध होगा और मेरे पास यह इतना धन है तथा आगे और बढता जायगा, वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया और दूसरे शत्रुओ को भी मै मारूंगा, तथा मैं ईश्वर और ऐश्वर्य को भोगने वाला हूँ और समस्त सिद्धियो से युक्त एव बलवान और सुखी मै ही हूँ, इत्यादि।[2]

'रामायण'[3] में जाबालि ने एक ऐसे सिद्धान्त का उपदेश दिया है जो लोकायतिको के मत के अनुरूप है। जाबालि ने कहा कि यह बडे दुःख की बात है कि कुछ ऐसे भी लोग है जो सासारिक भोगों की अपेक्षा पारलौकिक गुणो को अधिक महत्व देते है, मृतक व्यक्तियों की सन्तुष्टि के लिए विभिन्न प्रकार के यज्ञों को करना अन्न को बरबाद करना है, क्योंकि मर जाने पर कोई भी व्यक्ति खा नही सकता। यदि श्राध्य में लोगों द्वारा खाया हुआ भोजन प्रेतात्माओ की भूख मिटा सकता है तो दूरगामी देशो का भ्रमण करने जाने वाले व्यक्तियो के लिए भोजन आदि का प्रबन्ध करने के स्थान पर उनके लिए भी श्राध्य कर देना चाहिए। यद्यपि बुद्धिमान व्यक्तियो ने दान, यज्ञ, दीक्षा और यतित्व आदि के गुणो की प्रशंसा के बिषय में पुस्तको की रचना की है, किन्तु यथार्थतः ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से अधिक और किसी अन्य वस्तु की सत्ता नही है

'विष्णु पुराण'[4] मे भी कुछ ऐसे लोगो के विषय में संकेत किया गया है जो यज्ञ क्रियाओ की उपयोगिता मे विश्वास नही करते थे और वेदो तथा यज्ञो की निन्दा किया करते थे। 'महाभारत'[5] मे भरद्वाज ने बतलाया है कि जीवन

१- श्रीधर ने लिखा है कि यह लोकायतिको के लिए सकेत है। गीता १६, ९
२- गीता, १६, ७–१८
३. २, १०८
४. १, ६, २९—३१
५ १२ १८६

क्रियाओ की व्याख्या केवल भौतिक और शरीर–क्रियात्मक कारणो द्वारा की जा सकती है, अत: किसी आत्मा की कल्पना व्यर्थ है। 'महाभारत' में भी हैतुको के विषय मे सकेत मिलता है जो परलोक मे विश्वास नही करते थे ; वे प्राचीन मान्यताओ के प्रति ऐसे दृढ निश्चय वाले होते थे कि उनके मतों को आसानी से परिवर्तित नही कराया जा सकता था, वे 'बहुश्रुत' थे, प्राचीन शास्त्रो के विषय में उनका अध्ययन गम्भीर था, दान देते थे, यज्ञ करते थे, असत्य से घृणा करते थे सभाओं मे अच्छे व्याख्यान दिया करते थे, और सामान्य जनता में जाकर अपने मतो का प्रचार किया करते थे। इस अंश से स्पष्ट पता चलता है कि वैदिक समाज मे भी ऐसे लोग थे जो यज्ञ करते थे, दान देते थे और वेदों तथा प्राचीन साहित्य के ज्ञान मे पारंगत हुआ करते थे, जो असत्य से घृणा करते थे, अच्छे तार्किक और व्याख्याता होते थे, फिर भी वे इस जगत् के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता के अस्तित्व मे विश्वास नही रखते थे (नैतद् अस्तीति वादिन:) । इससे स्पष्ट हो जाता है कि नास्तिको का यह विचार (मृत्योपरान्त कोई जीवन नही होता) वैदिक लोगों मे कुछ विशिष्ट वर्गों के व्यक्तियों मे धीरे–धीरे प्रचलित हो रहा था , और यद्यपि उनमे से कुछ तो निकृष्ट लोग थे जो इस सिद्धान्त का उपयोग केवल ऐन्द्रिय उपभोग के लिए ही किया करते थे और निम्नस्तर का जीवन व्यतीत करते थे , किन्तु कुछ ऐसे भी थे जो वैदिक क्रियाओ का प्रतिपादन करते थे, वे वैदिक और अन्य साहित्य के अच्छे विद्वान थे, फिर भी अमरता के सिद्धान्त अथवा इस जगत के अतिरिक्त किसी अन्य जगत की सत्ता में विश्वास नही रखते थे। अत: उस प्रारम्भिक काल मे भी वदिक समाज मे एक ओर तो बहुत से नैतिक और विद्वान लोग थे जो इन पाखण्डपूर्ण सिद्धान्तो को मानते थे, और दूसरी ओर अनैतिक और दुष्ट व्यक्ति भी थे जो अनाचार का जीवन व्यतीत करते थे और पाखण्डियो के इस मत को प्रकट अथवा अप्रकट रूप से स्वीकार करते थे ।[1]

अत: निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि लोकायत सिद्धान्त अति प्राचीन था— सम्भवत: वेदो के समय का अथवा उससे भी पहले सुमेरी लोगों मे प्रचलित आर्यो के पूर्व काल का। साथ ही हम यह भी जानते हैं कि लोकायत शास्त्र पर 'भागुरी' द्वारा लिखी गई टीका ई० पू० २०० वर्ष अथवा ३०० वर्ष मे काफी प्रचलित थी , किन्तु लोकायत शास्त्र के रचयिता के विषय में कुछ कहना बड़ा ही कठिन है। इसे 'बृहस्पति' अथवा 'चार्वाक' की कृति कहा जाता

१ देखिए मैत्रायण उपनिषद ७ ८ ९

है।[1] ये वृहस्पति कौन थे और कब हुए थे, यह बता सकना भी बड़ा दुरूह है। राजनीति शास्त्र पर लिखे गए एक 'वृहस्पति सूत्र' नामक ग्रन्थ का अनुवाद सहित सम्पादन डॉ० एफ. डब्ल्यू थामस ने किया है और वह लाहौर से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थ[2] में लोकायतों का विवेचन किया गया है। यहाँ उन्हें चोर की संज्ञा दी गई है, जो धर्म को लाभ का साधन मानते थे और उन्हें निश्चय ही नरक में जाना पड़ेगा। अतः पूर्ण निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि राजनीति पर लिखे गये सूत्रों के रचयिता वृहस्पति न तो लोकायत विज्ञान के प्रणेता ही हो सकते हैं और न ये राजधर्म शास्त्र के रचयिता वृहस्पति ही। 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' में भी राजधर्म के लेखक के रूप में एक वृहस्पति का संकेत किया गया है। किन्तु थामस द्वारा प्रकाशित 'बारहस्पत्य–सूत्र' से इसे भिन्न होना चाहिए। 'कौटिल्य–अर्थशास्त्र' के बृहस्पति के विषय में वहाँ कहा गया है कि उन्होंने 'वार्ता' (कृषि और वाणिज्य) और 'दण्डनीति' को ही केवल विज्ञान माना है। उसी अध्याय के अगले अंश में बतलाया गया है कि उशनों ने दण्डनीति को शिक्षा का एक विषय माना है। 'प्रबोध चन्द्रोदय' में कृष्ण मिश्र ने लिखा है कि चार्वाक केवल दण्डनीति को ही विज्ञान मानते थे, और वार्ता का विज्ञान उसी के अन्तर्गत आ जाता है। इसके अनुसार चार्वाक केवल दण्डनीति और वार्ता को मानते थे, अतः उनका मत वृहस्पति और विशेषकर उशनों से सामंजस्य रखता था। किन्तु इसके द्वारा हम यह नहीं स्वीकार कर सकते कि कौटिल्य द्वारा निर्देशित वृहस्पति अथवा उशनों को मौलिक लोकायत का प्रणेता मान लिया जाय। अतः 'लोकायत शास्त्र' के रचयिता वृहस्पति एक काल्पनिक व्यक्ति है और लोकायत मत के प्रणेता के विषय में हमें कोई ज्ञान नहीं है। सम्भवतः मौलिक लोकायत ग्रन्थ 'सूत्र' रूप में लिखा गया था जिसकी कम से कम दो टीकायें थीं और उनमें से पहली शायद ई० पू० ३०० वर्ष या ४०० वर्ष के लिखी गई थी। इस मत के मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों के विषय में कम से कम एक श्लोकबद्ध ग्रन्थ अवश्य होना चाहिए जिसमें से अनेक उद्धरण माधवाचार्य के 'सर्वदर्शन–संग्रह' में उद्धृत किऐ गए है, अन्य स्थलों पर भी इन श्लोकों को उदाहरण के रूप में प्रयुक्त किया गया है।

यह कहना बड़ा कठिन है कि चार्वाक किसी वास्तविक व्यक्ति का नाम था अथवा नहीं। 'महाभारत'[3] में सम्भवतः सबसे पहले यह नाम आया है, जहाँ

१- मैत्रायण उपनिषद् ने इन सिद्धान्तों को वृहस्पति और शुक्र का माना है। श्री डी० शास्त्री की पुस्तक 'चार्वाक–षष्टि', पृ० ११–१३

२- २। ५, ८, १२, १६, २६ और ३। १५

३ १२। ३८ ३६

जहाँ इन्हे त्रिदण्डी सहित साधु ब्राह्मण के वेष में राक्षस कहा गया है। किन्तु किस सिद्धान्त का ये प्रतिपादन करते थे, इसके विषय मे कोई उल्लेख नहीं है। अधिकाश प्राचीन ग्रन्थों में लोकायत सिद्धान्त को या तो लोकायत मत के रूप मे विवेचित किया गया है अथवा उसे बृहस्पति का मत बतलाया गया है। अत. 'पद्मपुराण'[1] के 'सृष्टि-खण्ड' मे कुछ लोकायत सिद्धान्तो को बृहस्पति की शिक्षा कहा गया है। आठवी शताब्दी मे कमलशील ने लिखा है कि चार्वाक लोग लोकायत मत को मानने वाले थे। 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के अनुसार चार्वाक बहुत बडे शिक्षक थे जो शिष्यो की परम्परानुसार 'लोकायतशास्त्र' की शिक्षा का प्रचार किया करते थे। माधवाचार्य ने अपने 'सर्व–दर्शन-सग्रह' मे चार्वाक को बृहस्पति मतावलम्बी और नास्तिक शिरोमणि कहा है (बृहस्पति मतानुसरिणा नास्तिक शिरोमणिना)।[2] गुणरत्न ने 'षड्-दर्शन समुच्चय' की अपनी टीका मे चार्वाको के विषय में लिखा है कि यह एक ऐसा वर्ग है जो केवल भोजन पर बल देते है और पाप पुण्य को नहीं मानते तथा प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त जिनका विश्वास किसी अन्य वस्तु की सत्यता में नही है। वे मदिरापान करते थे और मासाहारी थे तथा असीमित काम–भोग मे लगे रहते थे। प्रत्येक वर्ष वे एक विशेष दिवस को एकत्रित होते थे और बिना किसी प्रतिबन्ध के स्त्रियों के साथ समागम करते थे। उनका व्यवहार सामान्य जनता की भाँति होता था, इसीलिए उन्हे लोकायत कहा जाता था, और मूलरूप मे बृहस्पति द्वारा प्रतिपादित मत मानने के कारण वे 'बार्हस्पत्य' भी कहलाते थे। "अतः यह कहना कठिन है कि चार्वाक (शब्द) किसी यथार्थ व्यक्ति का नाम था अथवा सांकेतिक पद जो लोकायत मतावलम्बियों के लिए व्यवहृत होता था।"[3]

हरिभद्र और माधवाचार्य दोनो ने लोकायत अथवा चार्वाक मत की गणना दर्शन अथवा दर्शन–पद्धति के रूप में की है। इसकी अपनी नवीन तर्क-शैली थी, इसने भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं के मान्य मतो की निषेधात्मक समीक्षा की, यह भौतिकवादी दर्शन था, इसने प्रत्येक प्रकार की नैतिकता, नैतिक दायित्व और धर्म को अमान्य ठहराया।

चार्वाक शब्द का अर्थ

'चार्वाक' शब्द की उत्पत्ति के विषय मे स्पष्ट रूप से कुछ ज्ञात नही है। कुछ विद्वानो का मत है कि महाभारत मे विवेचित चार्वाक नामक ऋषि ने इस

१- १२। ३१८-३४०

२- सर्व-दर्शन-संग्रह, पृ० १

३- हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी, दासगुप्त पृ० ५३३

मत को चलाया था और इसी कारण इस मत का नाम चार्वाक पड़ा । कुछ अन्य लोगों के अनुसार मूल रूप में 'चार्वाक' उस शिष्य का नाम था जिसको इस मत के प्रतिष्ठापक ने सबसे पहले इस दर्शन की शिक्षा दी थी । चार्वाक शब्द 'चर्व' धातु से निकला है जिसका अर्थ है 'चबाना' अथवा 'खाना' । अतः एक दूसरे मत के अनुसार खान-पान पर बल देने के कारण इस मत का नाम 'चार्वाक' पड़ा। चार्वाक दर्शन सर्वसाधारण को सुनने मे प्रिय लगता है, अतः कुछ विद्वानो का मत है कि मधुर वचन (चारुवाक्) बोलने के कारण यह चार्वाक कहलाया ।

साहित्य

जहाँ तक चार्वाक दर्शन के साहित्य का सम्बन्ध है, इस विषयो मे आजकल कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । बृहस्पति-रचित सूत्रों का उल्लेख अनेक प्राचीन दर्शन-ग्रथों मे मिलता है । बृहस्पति द्वारा रचित ये बहुत थोड़े से सूत्र हैं, जिनका उल्लेख विद्वानो ने अपने-अपने ग्रंथो मे किया है, अतः उनका उल्लेख यहाँ कर देना अनुपयुक्त न होगा-

(१) अथातस्तत्त्व व्याख्यास्यामः (अब हम तत्त्वों की व्याख्या करेंगे) ।[1]

(२) पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि (पृथ्वी, जल, तेज और वायु चार तत्त्व हैं) ।[2]

(३) तत्समुदाये शरीरेन्द्रिय विषय सज्ञा (इन्ही के समुदाय से शरीर, इन्द्रिय और विषय की संज्ञा होती है) ।[3]

(४) तेभ्यश्चैतन्यम् (इन्हीं से चेतना की उत्पत्ति होती है) ।

(५) किरावादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम् (जैसे किराव के बीज द्वारा मादकता की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार इन्हीं तत्त्वो से चेतना अथवा विज्ञान की)।

(६) भूतान्येव चेतयन्ते (केवल तत्वही चेतन होते है) ।[4]

(७) चैतन्य विशिष्टः कायः पुरुषः (चैतन्य से विशिष्ट शरीर ही पुरुष है यही आत्मा है) ।[5]

(८) जलबुद्बुद्वज्जीवाः (पानी के बुलबुले के समान जीव नश्वर है) ।

१- न्यायमंजरी, पृ० ६४

२- भामती, ३, ३, ५४ ; न्यायमजरी, पृ० ६४

३- वही

४- प्रबोधचन्द्रोदय

५- अद्वैतब्रह्मसिद्धि पृ० ६६

(९) परलोकिनोभावात्परलोकाभावः (क्योंकि कोई ऐसा व्यक्ति नही जो परलोक मे रहता हो, अतः परलोक की सत्ता नही है) ।[1]

(१०) मरणमेवापवर्गः (मृत्यु ही अपवर्ग (मोक्ष) है ।[2]

(११) धूर्तप्रलापस्त्रयी, स्वर्गोत्पादकत्वेन विशेषाभावात् (वेदत्रयी धूर्तो का प्रलाप है, क्योंकि जहाँ तक सुख के अनुभव, जिसे स्वर्ग कहा जाता है, का प्रश्न है, वेदो के कथन और उनके मत मे कोई अन्तर नहीं है) ।[3]

(१२) अर्थकामौ पुरुषार्थौ (अर्थ और काम की पूर्ति ही जीवन का पुरुषार्थ अर्थात् लक्ष्य है) ।[4]

(१३) दण्डनीतिरेव विद्या (अत्रैव वार्ता अन्तर्भवति)—राजनीति ही केवल पूर्ण विज्ञान है (इसी मे कृषि विज्ञान भी आ जाता है) ।[5]

(१४) प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्—केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है ।[6]

(१५) शरीरादेव—शरीर से ही चेतना स्वयं उत्पन्न होती है ।[7]

(१६) लौकिको मार्गोऽनुसर्तव्यः—जन साधारण जिस मार्ग पर चले, उसी का अनुसरण करना चाहिए ।[8]

ये ही कुछ बार्हस्पत्य-सूत्र चार्वाक-दर्शन के सर्वस्व है । पूर्व विवेचन से ही स्पष्ट है कि प्राचीन काल मे चार्वाक दर्शन के मूलग्रथ भी विद्यमान थे, किन्तु सम्भवतः इन सिद्धान्तों की अवहेलना के कारण इन ग्रन्थो का लोप हो गया । जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, पतंजलि के समय मे 'भागुरी' नामक टीका-ग्रन्थ विद्यमान था ।[9] भट्ट जयराशि विरचित 'तत्त्वोपप्लवसिंह' मे भी चार्वाक के ही सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है । यह तर्क–शैली पर आधारित ग्रथ

१- तत्त्वोपप्लव सिंह, पृ० ४५

२- अद्वैतब्रह्मसिद्धि पृ० ६६

३- प्रबोधचन्द्रोदय

४- वही, इस सूत्र का दूसरारूप—काम एवैकः पुरुषार्थः, अद्वैतब्रह्मसिद्धि पृ० ६६

५- वही,

६- वही,

७- तत्वोपप्लवसिंह, पृ० ८८

८. तत्वोपप्लवसिंह, पृ० १, [गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, एडीसन)

९. महाभाष्य, ७, ३, ४५,—वर्णिका भागुरी लोकायतस्य ।
'वर्णिका व्याख्याली भागुरी टीका विशेषः'—कैयट । 'काशिका' मे भी यही उदाहरण दिया गया है ।

दसवी शताब्दी के आसपास लिखा गया था। इस मत के सिद्धान्तो का परिचय हमे समस्त दर्शनो के सग्रहात्मक ग्रथो से तथा न्याय-वैशेषिक–वेदान्त-आदि दर्शनो के ग्रन्थो से मिलता है जिनमे ये पूर्वपक्ष के रूप मे निविष्ट किए गए है। 'ब्रह्म-सूत्र'[1] के सूत्रो के भाष्य, 'न्यायमंजरी', 'विवरणप्रमेय सग्रह' 'सर्व सिद्धान्त सग्रह' 'सर्वमत–सग्रह' 'षड्दर्शन–समुच्चय' तथा इसकी गुणरत्नकृत टीका, 'सर्व दर्शन-सग्रह' कमलशील–कृत 'तत्वसग्रह' की पञ्जिका, 'नैषध–काव्य'[2] कृष्णायति मिश्र कृत 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक[3]–के अध्ययन से इसके मूलभूतसिद्धान्तो का ज्ञान पर्याप्त रूप से हो जाता है। 'सर्व–दर्शन–संग्रह' के पहले अध्याय मे माधवाचार्य ने चार्वाक दर्शन का प्रतिपादन कुछ विस्तार के साथ किया है।

चार्वाक दर्शन की ज्ञानमीमांसा

प्रत्यक्ष ही एकमात्र विश्वसनीय प्रमाण है

चार्वाक दर्शन मुख्य रूप से अपने प्रमाण-सम्बन्धी विचारों पर ही आधारित है। हमारे तत्वज्ञान की सीमा क्या है, ज्ञान की उत्पत्ति एवं विकास कैसे होता है, ज्ञान–प्राप्ति के लिए क्या-क्या प्रमाण है, इत्यादि प्रमाण-विज्ञान की प्रधान समस्याये है। विभिन्न प्रमाणों का विचार भारतीय ज्ञान-मीमासा का एक प्रधान अग है। तत्व-ज्ञान अथवा यथार्थ ज्ञान को प्रमा कहते हैं। प्रमा के कारण (अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान उत्पन्न होता है) को प्रमाण कहते है। प्रमाण के प्रकारो के विषय मे भारतीय दार्शनिको मे मतभेद है,[4] जिसका विवेचन आगे किया जायगा।

चार्वाक मत के अनुसार प्रत्यक्ष ही एक मात्र विश्वसनीय प्रमाण है। विषय तथा इन्द्रिय के सम्पर्क से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रमेय की सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही हो सकती है। इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्षीकृत जगत् ही सत्

---

१ २, ३, ५३–५४

२. सत्रहवाँ सर्ग

३. द्वितीय अंक

४- प्रत्यक्षमेक चार्वाका कणादसुगतौ पुनः।
अनुमान च तच्चापि साख्या शब्द च ते अपि॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवम् उपमानं च केचन।
अर्थापत्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः॥
अभावषष्ठान्ये तानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
संभवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिकाजगुः॥ मानसोल्लास २.१७.२०

है इसके अतिरिक्त समस्त पदार्थ असत् है,ये केवल कल्पना की वस्तुयें हैं,वास्तविकता की नहीं। स्पर्शेन्द्रिय द्वारा मृदु कठोर, शीत, उष्ण आदि भावों का ग्रहण होता है, रसनेन्द्रिय से कटु, कषाय, अम्ल, मधुर आदि रसों का ग्रहण होता है; घ्राणेन्द्रिय द्वारा मृगमद, मलयचन्दन, कपूर आदि सुरभित पदार्थों का ग्रहण किया जाता है; चक्षु इन्द्रिय द्वारा पृथ्वी, घट, पट, मनुष्य आदि स्थावर जंगम पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है; श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है। इसीलिए चार्वाक दर्शन में कहा गया है-प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। प्रारम्भ मे ये लोग चक्षु से देखने को ही प्रत्यक्ष कहते थे किन्तु बाद मे पाँच इन्द्रियों के आधार पर पाँच प्रकार का प्रत्यक्ष मानने लगे। चार्वाक दर्शन मे प्रत्यक्ष के और दो भाग किए गए है—(१) बाह्य प्रत्यक्ष और (२) आन्तरिक प्रत्यक्ष। बाह्य प्रत्यक्ष इन्द्रियों और विषयो के संसर्ग से होता है। आन्तरिक प्रत्यक्ष बाह्य प्रत्यक्ष पर निर्भर है। बाह्य प्रत्यक्ष द्वारा उपस्थित सामग्री पर अन्तःकरण कार्य कर सकता है।[1] इसी प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत वस्तु प्रमाणभूत मानी जाती है। अस्पृष्ट, अनास्वादित, अनाघ्रात, अदृष्ट तथा अश्रुत पदार्थ की सत्ता किसी प्रकार भी स्वीकृत नहीं की जा सकती। किन्तु सभी प्रत्यक्ष ज्ञान भी प्रामाणिक नही है। कुछ प्रत्यक्ष भ्रम भी होते हैं।

अनुमान प्रमाण निश्चयात्मक नहीं है

प्रत्यक्ष को ही एकमात्र विश्वसनीय प्रमाण मानने के कारण चार्वाक दर्शन ने अन्य प्रमाणों का खण्डन किया है। अनुमान की अप्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए इस प्रकार तर्क दिए गए है–अनुमान को प्रमाण के रूप मे तभी स्वीकार किया जा सकता है जब इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान संशय-रहित और वास्तविक हो। किन्तु अनुमान मे इन बातों का सर्वथा अभाव रहता है। जब हम 'धूमयुक्त पर्वत' को देखकर इस निर्णय पर पहुँचते है कि 'पर्वत पर अग्नि है' तो हम प्रत्यक्ष ज्ञान से अप्रत्यक्ष ज्ञान पर चले जाते हैं। नैयायिकों के मतानुसार इस प्रकार का प्रमाण सर्वथा युक्तिपूर्ण है क्योंकि धूम और अग्नि मे व्याप्ति–सम्बन्ध (नियत साहचर्य) वर्तमान है। अतः कहा जा सकता है–

समस्त धूमवान पदार्थ वह्निमान है।
पर्वत धूमवान है।
अतः पर्वत वह्निमान है।

चार्वाकों का कथन है कि अनुमान युक्तिपूर्ण और निश्चयात्मक तभी हो सकता है जब व्याप्ति–वाक्य सर्वथा निःसन्देह हो; क्योंकि व्याप्ति सम्बन्ध मे ही हेतु का साध्य के साथ पूर्णव्यापक सम्बन्ध स्थापित रहता है। धूमवान पर्वत

१ —समग्र प० ६

को निश्चयात्मक रूप से वह्निमान तभी माना जा सकता है जब समस्त धूमवान पदार्थ वास्तव मे वाह्निमान हो। कुछ स्थानो पर धूम के साथ अग्नि का अवलोकन करने से यह सामान्य सिद्धान्त नही बनाया जा सकता कि जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ–वहाँ अग्नि है'। पाश्चात्य अनुभववादी ह्यूम की भाँति चार्वाक का कहना है कि एक सामान्य अनिवार्य नियम तभी बनाया जा सकता है जबकि उस प्रकार की समस्त घटनाओ का अवलोकन किया गया हो किन्तु यह सर्वथा असम्भव है। प्रत्यक्ष ज्ञान के सीमित होने के कारण वर्तमान काल के ही धूम-वह्निविशिष्ट स्थलों का निरीक्षण सिद्ध नहीं किया जा सकता, भूत तथा भविष्य के स्थलो के परीक्षण की बात ही अलग है। ऐसी दशा मे व्याप्ति वाक्य की सत्यता को कैसे प्रमाणित किया जा सकता है ? प्रत्यक्ष के द्वारा हमे केवल 'व्यक्ति' का सम्बन्ध ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष की सहायता से इतना ही ज्ञान हो सकता है कि एक 'क' का सम्बन्ध एक 'ख' के साथ विद्यमान है, किन्तु इस सीमित ज्ञान के आधार पर समस्त 'क का सम्बन्ध समस्त 'ख' के साथ बतलाकर व्याप्ति सम्बन्ध स्थापित करना बड़े दुस्साहस का काम है। पाकशाला मे एक विशिष्ट धूम का सम्बन्ध एक विशिष्ट वह्नि के साथ देखकर समस्त धूम का सम्बन्ध समस्त वह्नि के साथ होगा ही, क्या हम ऐसे नियम बनाने के अधिकारी है ? यदि नही, तो प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति की स्थापना नही की जा सकती। व्याप्ति का ज्ञान न तो वाह्य प्रत्यक्ष द्वारा सम्भव है और न आन्तरिक प्रत्यक्ष द्वारा ही। व्याप्ति प्रतिज्ञा और उपनय की समस्त घटनाओ का परस्पर अनिवार्य सम्बन्ध है किन्तु प्रतिज्ञा और उपनय के सम्बन्ध की समस्त घटनाओं को बाहरी इन्द्रियों की सहायता द्वारा नही जाना जा सकता। आन्तरिक प्रत्यक्ष द्वारा भी व्याप्ति को नहीं जाना जा सकता क्योंकि आन्तरिक प्रत्यक्ष बाह्य पर ही निर्भर है। व्याप्ति की असत्यता सिद्ध होते ही अनुमान की असत्यता अपने आप सिद्ध हो जाती है।

अनुमान के द्वारा भी व्याप्ति की स्थापना नही हो सकती, क्योंकि फिर इस अनुमान को भी तो व्याप्ति पर निर्भर रहना होगा, और उस व्याप्ति को सिद्ध करने के लिए भी प्रत्यक्ष की आवश्यकता होगी। व्याप्ति अनुमान पर निर्भर है, और अनुमान व्याप्ति पर आधारित है, यहा 'अन्योन्याश्रय' दोष हो जाता है।

व्याप्ति की स्थापना शब्द के द्वारा भी नही की जा सकती क्योकि शाब्दिक प्रमा भी अनुमान के द्वारा ही सिद्ध होती है। दूसरी बात यह भी है कि यदि अनुमान सदैव शब्द प्रमाण पर ही निर्भर हो तो फिर कोई भी व्यक्ति स्वय अनुमान नही कर सकता। उसे सदैव किसी विश्वसनीय व्यक्ति पर ही निर्भर रहना होगा और इस शृंखला का कहीं अन्त न होगा क्योंकि अन्त केवल

अन्योन्याश्रय की अवस्था मे हो सकता है।

नैयायिकों का मत है कि हम समस्त धूमवान तथा वह्निमान पदार्थों को तो नही देख सकते, यह सत्य है, किन्तु उनके सामान्य धर्मो अर्थात् 'धूमत्व' और 'वह्नित्व को अवश्य देख सकते है। अत समस्त धूमवान और वह्निमान पदार्थो को बिना देखे भी 'धूमत्व' तथा 'वह्नित्व' मे नियत साहचर्य (व्याप्ति) स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर किसी भी धूमवान पदार्थ को देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि यह वह्निमान है, क्योंकि धूमत्व केवल धूमवान पदार्थो तथा वह्नित्व केवल वह्निमानपदार्थों में ही रह सकता है। इस युक्ति के खण्डन मे चार्वाकों का कथन है कि वस्तुत. प्रत्यक्ष के द्वारा 'धूमत्व'का ज्ञान होना सम्भव ही नही हो सकता, क्योंकि धूमत्व तो एक जाति अथवा सामान्य है जो समस्त धूमवान पदार्थों मे विद्यमान रहता है। अत जब तक समस्त धूमवान पदार्थों का प्रत्यक्ष न हो जाय तब तक उनके सामान्य का ज्ञान नही हो सकता। किन्तु सभी धूमवान पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होना सम्भव नही है। अत॰ 'धूमत्व' केवल उन्ही धूमवान पदार्थो का सामान्य समझा जायगा जिनका अवलोकन हमने किया है। इस प्रकार 'धूमत्व' अप्रत्यक्ष धूमवान पदार्थों का सामान्य नही माना जा सकता। अतः कुछ व्यक्तियो को प्रत्यक्षीकृत करके व्याप्ति ज्ञान की स्थापना नही की जा सकती। इसी प्रकार एक दूसरी युक्ति को एक अन्य उदाहरण लेकर समझा जा सकता है। 'सभी मनुष्य मरणशील है,' यदि इस वाक्य मे व्याप्ति सम्बन्ध 'मनुष्यता' तथा 'मरणशीलता' के साहचर्य पर अवलम्बित मान लिया जाय तो किसी नवीन अनुमान की कोई सम्भावना नहीं रह जाती, क्योंकि 'मनुष्यता' और 'मरणशीलता' को धारण करने वाले समस्त पदार्थों का ज्ञान हमे व्याप्ति मूलक वाक्य में प्रथम ही हो चुका है। ऐसी अवस्था में देवदत्त मे 'मनुष्यता' हेतु द्वारा 'मरणशीलता' का अनुमान करने की कोई आवश्यकता ही नही प्रतीत होती क्योकि वह तो व्याप्ति मे ही निहित है। अत यहाँ सिद्ध साधन दोष उत्पन्न हो जायगा।[1] अतः चार्वाकों का कहना है कि सामान्यगत व्याप्ति मानने से कोई अनुमान नही हो सकता।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि संसार में कोई निश्चित सर्वव्यापक नियम नही है तो सांसारिक वस्तुओं में नियमितता क्यो पाई जाती है? अग्नि सदैव जलती क्यो है? जल हमेशा शीतल क्यों रहता है? धूम के साथ हर समय अग्नि क्यो वर्तमान रहती है, इत्यादि? अतः कम से कम कार्य-

---

१ विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता।
अनुमाभंगपंकेऽस्मिन निमग्ना वादिदन्तिनः॥
शास्त्रद पिरा पृ० ६३ में उद्धृत

कारण भाव को स्वीकार करके उनके साहचर्य को न्यायसंगत माना जा सकता है। किन्तु चार्वाकों की दृष्टि में जगत् में कार्य-कारण भाव के लिए कोई स्थान नहीं है। संसार की विचित्रता कार्य-कारण भाव की विचित्रता के कारण नहीं है, प्रत्युत अपने स्वभाव के कारण है। सुखी व्यक्ति का अवलोकन करके धर्म की कल्पना और दुःखी व्यक्ति को देखकर अधर्म की कल्पना युक्तिसंगत नहीं है। सुख का कारण न तो धर्म है और न दुःख का कारण अधर्म ही। मनुष्य अपने स्वभाव से ही सुखी अथवा दुःखी हुआ करता है। इसके लिए अन्य कोई कारण नहीं है। अग्नि जलाने वाला है अथवा जल शीतल है, इसके लिए किसी कारण की कल्पना करना उचित नहीं। वास्तव में यहाँ तो वस्तु का स्वभाव ही कारण है। मयूरों को रंग-विरंगा बनाने वाला कौन है? कोकिल को इतनी मधुर वाणी किसने प्रदान की? इसका कारण केवल उनका स्वभाव ही हो सकता है।[1] इसीलिए दर्शन-जगत् में चार्वाकों के मत को 'स्वभाववाद' कहा जाता है। वे जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश का मूल कारण 'स्वभाव' ही मानते हैं। जगत् की विचित्रता का कारण वस्तु-स्वभाव ही है और इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं।[2]

कार्य-कारण का ठीक ज्ञान भी सिद्ध नहीं हो सकता। कार्य की उत्पत्ति के समय अनेक साधक उपाधियों की सत्ता रहती है, जिनमें से बहुत से व्यक्त रहते हैं और बहुत से अव्यक्त। इन समस्त व्यक्त तथा अव्यक्त उपाधियों के पूर्ण ज्ञान हुए बिना कार्य-कारण भाव की उचित कल्पना नहीं हो सकती। दूसरी बात यह भी है कि व्याप्ति सदैव निरुपाधि हुआ करती है और किसी अनुमान की घटना की समस्त उपाधियों को कभी जाना नहीं जा सकता। प्रतिज्ञा और उपनय का सम्बन्ध उपाधियों की अनुपस्थिति पर निर्भर है, किन्तु अनुपस्थिति का ज्ञान होने से पूर्व उस उपाधि का ज्ञान होना चाहिए और क्योंकि समस्त उपाधियों का ज्ञान सम्भव नहीं है अतः उनकी अनुपस्थिति का ज्ञान और इस कारण व्याप्ति का निश्चय असम्भव है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या धूम तथा अग्नि की व्याप्ति कार्य-कारण सम्बन्ध के द्वारा स्थिर नहीं की जा सकती? चार्वाकों के अनुसार कार्य-कारण

१- शिखिनाश्चित्रयेत् को वा कोकिलान् कः प्रकूजयेत्।
स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्।

स० सि० स० २।५

२- अपरे लोकायतिकाः स्वभावजगतः कारणमाहुः।
स्वभावादेव जगत् विचित्रमुत्पद्यते स्वभावतो विलयं याति।

महोत्पल- बृहत्संहिता (१।७) की टीका।

सम्बन्ध भी एक व्याप्ति है। अत इसकी स्थापना भी पूर्व विवेचित कठिनाइयों के कारण नही हो सकती। इसके अतिरिक्त चार्वाको का यह भी मत है कि दो वस्तुओ को बार-बार साथ देखकर उनके मध्य कार्य-कारण सम्बन्ध अथवा अन्य किसी व्याप्ति की स्थापना नही की जा सकती, क्योकि ऐसा सम्बन्ध स्थापित करने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि उन दोनो वस्तुओ का साहचर्य किसी अलक्षित कारण अथवा अन्य उपाधि पर तो निर्भर नहीं है। कोई मनुष्य अग्नि को धूम के साथ कई स्थलो पर अवलोकित करता है। उसके उपरान्त यदि वह केवल अग्नि को देखकर धूम का अनुमान करता है तो यहाँ दोष की सम्भावना बनी रह जाती है, क्योकि यहाँ उपाधि की अवहेलना की गई है– जैसे ईंधन की आद्रता। आर्द्र इंधन सयोग से ही अग्नि के साथ धूम रह सकता है। जब तक दो वस्तुओ का सम्बन्ध उपाधि रहित नही होता तब तक वह अनुमान का वास्तविक आधार नही हो सकता। प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा यह नही सिद्ध किया जा सकता कि कोई व्याप्ति पूर्णरूप से उपाधि रहित है, क्योकि प्रत्यक्ष इतना व्यापक नही होता है। यह सम्भव भी नही है कि प्रत्यक्ष द्वारा समस्त उपाधियों का ज्ञान प्राप्त हो जाय। उपाधि निरास के निमित्त अनुमान अथवा शब्द प्रमाण की सहायता लेना भी अनुचित है, क्योकि वे स्वयं सदिग्ध है, और जो स्वय सदिग्ध है, असिद्ध है, वह किसी का साधन कैसे कर सकता है—'स्वयं असिद्धः कथ परान् साधयति' ?

अनुमान के खण्डन के लिए शान्तरक्षित ने निम्नलिखित तर्क उपस्थित किया है।

(क) अनुमान अप्रामाणिक है क्योंकि वह युक्त हेतु पर निर्भर है जो एक मिथ्या ज्ञान के समान अप्रामाणिक है। उदाहरणार्थ— 'हमारी इन्द्रियाँ दूसरों के उपभोग के लिए हैं क्योंकि वे (एक कुर्सी की भाँति) संयुक्त वस्तुये है।" यहाँ पर हेतु मे लगभग तीनो विशेषताओ के उपस्थित होने पर भी यह अनुमान दोष युक्त है। वह पक्ष मे उपस्थित है, वह उन अवस्थाओ मे उपस्थित है जिनमे साध्य उपस्थित है, किन्तु वह उन अवस्थाओ मे नही है जिनमे साध्य नही है। (ख) क्योकि उपनय मे तीनो हेतुओ की उपस्थिति अनुमान का साधन नही हो सकती। उपनय के दो हेतुओ की भाँति वहाँ भी उपस्थिति होती है जहाँ पर कोई अनुमान नही होता। (ग) क्योंकि प्रत्येक अनुमान मे उसका विरोध हो सकता है। साध्य पक्ष मे नही रह सकता क्योकि स्वय निगमन के समान वह अनुमान के लिए आवश्यक सभी शर्तो का एक भाग है। (घ) क्योकि एक निर्णय पर पहुँचने वाला अनुमान एक अन्य प्रामाणिक अनुमान द्वारा काटा जा सकता है। 'शब्द अनित्य है क्योकि वह घड़े के समान उत्पन्न वस्तु है,' इस

अनुमान का एक अन्य अनुमान, 'शब्द नित्य है क्योंकि वह आकाश का गुण है जो कि नित्य है', द्वारा खण्डन हो जाता है। (ङ) क्योंकि प्रत्येक अनुमान में से एक ऐसा अनुमान निकाला जा सकता है जो साध्य के विरोधी के साथ अनिवार्य रूप से सम्बन्धित हो। यह अनुमान कि 'शब्द अनित्य है क्योंकि वह घट के समान उत्पन्न होता है', इस अनुमान से खण्डित हो जाता है कि शब्द नित्य है क्योंकि वह शब्द की जाति के समान कर्णगोचर होता है।' अतः अनुमान अप्रामाणिक है।

अनुमान लोक-व्यवहार का साधक माना जाता है, किन्तु चार्वाकों के अनुसार लोक-व्यवहार के लिए निश्चय की आवश्कयता नहीं,आवश्यकता तो केवल सम्भावना की है। सम्भावना के आधार पर ही लोक का समस्त व्यवहार चलता है। दूर स्थान पर रखे गए बर्तन में श्वेत रंग की वस्तु दूध सी है, इसी आधार पर बालक आगे बढ़ता है। यह प्रवृत्ति केवल सम्भावना मूलक है, निश्चयात्मक नहीं। बालक जब उस वस्तु को लेने के लिए अग्रसर होता है, तो वह केवल इसीलिए आगे नहीं बढ़ता है कि दूध की प्राप्ति उसे हो ही जायगी, प्रत्युत सम्भव है दूध मिल जाय, यह ज्ञान ही उसकी प्रवृत्ति का कारण है। ऐसी अवस्था में निश्चय की कोई आवश्यकता नहीं है। अतः सम्भावनामात्र को उत्पन्न कर देने से ही लोक-व्यवहार के लिए अनुमान को माना जा सकता है। इसीलिए प्रसिद्ध चार्वाक पुरन्दर (सातवीं शताब्दी के निकट) अनुमान को लौकिक जगत् में प्रामाणिक और अलौकिक जगत्, मृत्योपरान्त जीवन तथा कर्म सिद्धान्त के विषय में अप्रामाणिक मानता है क्योंकि इनका अनुभव प्रत्यक्ष द्वारा सम्भव नहीं है।[1] किन्तु अन्य चार्वाक दार्शनिक लौकिक और अलौकिक दोनों ही विषयों में अनुमान को अप्रामाणिक मानते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अनुमान कभी

१- कमलशील की 'पंजिका' में पुरन्दर का नाम आया है, पृ० ४३१

पुरन्दरस्त्वाह लोक प्रसिद्धम् अनुमानं चारवाकैरपीष्यते एव, यत्तु कैश्चित् लौकिक मार्गम् अतिक्रम्य अनुमानम् उच्यते तन्निषिद्धयते।

वादिदेव सूरि ने भी अपने ग्रंथ प्रमाण-नय-तत्वलोकालंकार की टीका स्याद्वाद रत्नाकर' में पुरन्दर के एक सूत्र का उद्धरण दिया है—११, १३१

प्रमाणस्य गौणत्वाद् अनुमानाद् अर्थ-निश्चय-दुर्लभात्।
अव्यभिचारावगमो हि लौकिक हेतूनाम्
अनुमेयावगमे निमित्तं स नास्ति तत्र-सिद्धेषु
इति न तेभ्यः परोक्षार्थावगमो न्याय्योऽतैदम्
उक्तम् अनुमानाद् अर्थनिश्चयो दुर्लभः।

भी सच नहीं होता। किसी-किसी समय उसके सच होने की सम्भावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता। संयोगवश जहाँ हमारे अनुमान सही निकल जाते है, वहीं वे गलत भी होते है। अत. यह नहीं कहा जा सकता कि अनुमान अवश्य ही प्रामाणिक होता है। अनुमानो का प्रामाणिक होना स्वाभाविक धर्म नहीं है, वे सही भी हो सकते है और गलत भी। अगमन सदिग्ध होता है और निगमन 'अन्योन्याश्रय' दोष से युक्त। इसलिए नैयायिक अपने को अनुमान के पक मे फँसा लेते है।

अनुमान सम्बन्धी चार्वाक मत का खण्डन

भारतीय दर्शन के समस्त सम्प्रदायो ने, जिन्होंने कम से कम प्रत्यक्ष और और अनुमान की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है, चार्वाको की अप्रौढ स्थिति का खण्डन किया है। लौकिक दृष्टि से अनुमान को न मानने का अर्थ है चिन्तन करने तथा उस पर वाद-विवाद करने को ही अस्वीकार करना। हर प्रकार के चिन्तन, हर प्रकार के विवाद, हर प्रकार के मत, हर प्रकार की स्वीकृति एव अस्वीकृति, हर प्रकार प्रमाण और अप्रमाण अनुमान द्वारा ही सिद्ध किए जाते हैं। चार्वाक का यह सिद्धान्त कि प्रत्यक्ष ही प्रमाण है और अनुमान अप्रामाण्य है, स्वयं अनुमान का विषय है। इस प्रकार चार्वाक का अनुमान का खन्डन स्वय अनुमान पर आधारित है। चार्वाक दूसरो को अनुमान के द्वारा ही समझ सकते है और अपने को दूसरो को समझा सकते है। चिन्तन और विचार जड पदार्थ नही है, अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, वे केवल अनुमान के ही विषय हो सकते है। अतः अपने ही सिद्धान्तो से बाधित चार्वाक दर्शन भारतीय दर्शनों के अन्तर्गत कोई स्थान नहीं ले पाता। स्वय प्रत्यक्ष भी, जिसे चार्वाक प्रमाण के रूप मे स्वीकार करते है, सदैव सत्य नहीं होता। हम पृथ्वी को समतल देखते है किन्तु यह करीब-करीब गोल है। पृथ्वी का प्रत्यक्ष ज्ञान हमे स्थिर प्रतीत होता है, किन्तु वास्तविकता इसके प्रतिकूल है, वह गतिमान है। हम सूर्य को बहुत ही छोटे आकार का देखते है, किन्तु वह वास्तव मे पृथ्वी से भी कई गुना बडा है। ऐसे प्रत्यक्षीकृत ज्ञान अनुमान से बाधित हो जाते है। साथ ही साथ शुद्ध प्रत्यक्ष केवल सवेदना के रूप मे ही होता है। अतः जब तक उसे प्रत्यक्षो अथवा सामान्य विचारों के अन्तर्गत व्यवस्थापित न कर लिया जाय तब तक उनका कोई तात्पर्य नही। ऐसी अवस्था मे केवल इन्द्रिय-सवेदनाओ की एक सामग्री के रूप मे ही स्वीकार किए जा सकेंगे।

रामानुज के शिष्य वेकटनाथ ने चार्वाक मत की आलोचना करते हुए बतलाया है कि हेतु की अनुपस्थिति के आधार पर चार्वाक अनुमान का खण्डन करत हैं। किन्तु ऐसा करने मे वे स्वय हेतु उपस्थित करते है। वास्तव मे अनुमान

के न होने पर चार्वाक स्वय अपने मत की पुष्टि नही कर सकते ।

व्याप्ति के विरुद्ध चार्वाकों ने यह युक्ति दी है कि उसका सभी अवस्थाओ मे निश्चय नही किया जा सकता । यह खण्डन स्वयं तभी लागू होता है जबकि वह सभी अवस्थाओ मे प्रामाणिक हो । अतः व्याप्ति को मानना पडेगा, और ऐसा न होने पर भी व्याप्ति का खण्डन नही हुआ । चार्वाक किसी भी तर्क को निरुपाधि नही मानते, अतः उनका यह तर्क भी निरुपाधि न होने के कारण स्वय खण्डित हो जाता है ।

नैयायिक उदयनाचार्य के अनुसार जीवन सम्भावनाओ पर नहीं प्रत्युत उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति के निश्चय ज्ञान पर आधारित है । उदयन का मत है कि जहा सन्देह का अवकाश होता है, वहा अनुमान अनिवार्य है और जहाँ सन्देह की गुंजाइश नही है वहा अनुमान की सिद्धि ही है । जहाँ चार्वाकों ने व्याप्ति को सोपाधि बतलाया है वहाँ स्वय उनका तर्क वास्तव मे अनुमान पर आधारित है, क्योंकि भविष्य अथवा अन्य स्थान का ज्ञान प्रत्यक्ष पर नही प्रत्युत अनुमान पर ही आधारित है । वास्तव मे क्रिया आरम्भ होने पर शंका और सभावना का स्थान निश्चित ज्ञान ले लेता है ।

चार्वाकों के कार्य–कारण–सम्बन्ध के खण्डन की समीक्षा करते हुए उदयन का मत है कि कार्य--कारण–सम्बन्ध की अनिवार्यता मे सन्देह का भी कोई कारण अवश्य है । यदि ऐसा न हो तो किसी भी कार्य का कोई भी परिणाम हो सकता है । वास्तव अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर ही व्याप्ति में सन्देह के कारण की स्थापना की जा सकती है और अन्वय–व्यतिरेक के आधार को मान लेने पर इसी आधार पर व्याप्ति को भी सिद्ध किया जा सकता है ।

अतः सिद्ध है कि अनुमान की प्रामाणिकता पर चार्वाक दर्शन के अस्वीकार करने से कोई प्रभाव नही पड़ता ।

शब्द भी प्रमाण नही है

चार्वाकों का कथन है कि विश्वासयोग्य व्यक्तियो से प्राप्त ज्ञान शब्द के रूप मे उपलब्ध होता है और शब्दो का सुनना तो प्रत्यक्ष है । इस प्रकार शब्द-ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा होता है । अतः इसे प्रामाणिक मानना चाहिए । किन्तु यदि शब्द से ऐसी वस्तुओ का बोध हो जो प्रत्यक्ष से बाहर हो अर्थात यदि शब्द द्वारा अप्रत्यक्ष वस्तुओ का बोध होता हो तो इसे दोष-रहित नही कहा जा सकता ऐसे शब्द–प्रमाण से प्राय. मिथ्याज्ञान होता है । अधिकांश लोग वेदो की प्रामाणिकता मे पूर्ण विश्वास रखते है, किन्तु वेद उन धूर्त पुरोहितो की कृतियाँ हैं जिन्होने अज्ञान तथा विश्वासपरायण मनुष्यो को धोखे में डालकर

अपनी जीविका उपार्जन का प्रबन्ध किया है। इन पुरोहितों ने झूठे-झूठे प्रलोभनों तथा झूठी आशायें देकर मनुष्यों को वैदिक कर्म के अनुसार चलने को प्रेरित किया है। वास्तव में इन कर्मों द्वारा लाभ केवल पुरोहितों को होता है। इसी कारण वे वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करते। आपस में विरोध होने से, निरर्थक शब्दों का प्रयोग करने से, तथा अप्रत्यक्ष पदार्थों की कल्पना करने से वेद प्रमाण–बाह्य है। अश्वमेध में घृणित कार्य–कलाप के वर्णन करने से, जर्फरी, तर्फरी, पफरीका, जेमना, मदेरू आदि अनर्थक शब्दों के प्रयोग से [1] तथा यज्ञों में मांसभक्षण के विधान करने से यही प्रतीत होता है कि वेद के बनाने वाले भण्ड थे, धूर्त थे तथा निशाचर थे।[2] अब प्रश्न यह उठता है कि यदि हम अनुभवी तथा योग्य व्यक्तियों के शब्दों में विश्वास न करें तो हमारा ज्ञान क्या अत्यन्त संकुचित न रहेगा ? और हमारे कार्यों में क्या बाधा नहीं पहुँचेगी ? इस विषय में चार्वाकों का मत है कि शब्द में प्राप्त समस्त ज्ञान अनुमान-सिद्ध है। किसी भी शब्द को हम इसलिए मानते हैं कि वह विश्वासयोग्य होता है। अतः शब्द से ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनुमान की आवश्यकता होती है और वह अनुमान इस प्रकार होता है, चाहे दैनिक जीवन में हम उसका व्यवहार इस रूप में न करते हों—

सभी विश्वसनीय व्यक्तियों के वाक्य मान्य हैं।
यह विश्वसनीय व्यक्ति का कथन है।
अतः यह मान्य है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि शब्द के द्वारा प्राप्त ज्ञान अनुमान पर ही आधारित होता है। अतः शब्द की प्रामाणिकता भी उसी प्रकार सन्दिग्ध है जिस प्रकार अनुमान की। अनुमान की भांति शब्द को भी हम विश्वासयोग्य मानकर उसके अनुसार अपने कार्य करते हैं। कभी-कभी इस विश्वास के अनुसार कार्य करने से सफलता भी प्राप्त हो जाती है किन्तु सर्वथा ऐसा ही हो, यह आवश्यक नहीं। अतः शब्द को ज्ञान प्राप्ति का यथार्थ व योग्य व योग्य साधन नहीं माना जा सकता।

चार्वाकों की वेद–निन्दा की समीक्षा

उदयनाचार्य ने चार्वाकों की वेदनिन्दा की कठोर समीक्षा की है। वेद

१- ऋग्वेद १०, १०६, ६

२- त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्त निशाचराः।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम्।।
स० द० स० पृ० ४

धूर्तपुजारियो की रचना न होकर उन महर्षियों द्वारा रचे गए है जिनमे किसी प्रकार का स्वार्थ, विश्वासघात जीविकोपार्जन की इच्छा, झूठ बोलने की आदत अथवा सासारिक सुख भोग के आकर्षण की प्रवृत्तियाँ बिल्कुल नही थी और जो बडे ही तपस्वी, बुद्धिमान और महान थे । अतः वेदों के वाक्यों में किसी प्रकार का सन्देह नही किया जा सकता । वेंकटनाथ ने भी वेदों की प्रामाणिकता के पक्ष में इसी प्रकार के तर्क दिए है । अत कहा जा सकता है कि चार्वाकों के वेद विषयक विचार पक्षपातपूर्ण, एकागी और भ्रामक हैं ।

उपमान भी अप्रामाणिक है

उपमान प्रमाण को भी चार्वाको ने अप्रामाणिक बतलाया है । उपमान सज्ञा-सज्ञि-सम्बन्ध पर निर्भर होता है । किसी मनुष्य ने गवय (नीलगाय) कभी नही देखा, किन्तु उसने किसी से सुना है कि गवय गाय के सदृश होता है । तब वह जगल मे जाता है और गाय के सदृश एक जानवर देखता है जिससे वह जान लेता है कि वही जानवर गवय है । संज्ञा-सज्ञि-सम्बन्ध पर आधारित यह ज्ञान न्याय दर्शन मे उपमान कहा गया है । चार्वाक का आक्षेप है कि इस प्रकार का ज्ञान भी एक प्रकार के लिग लिगि-सम्बन्ध (हेतु साध्य-सम्बन्ध) पर ही आश्रित होता है । और यहाँ भी हेतु और साध्य के निरुपाधिक सम्बन्ध का निश्चय नही हो सकता अत उपमान को भी प्रमाण के रूप मे नही स्वीकार किया जा सकता ।

चार्वाकों ने अपने 'सूत्र' ग्रन्थ में, न केवल अनुमान की अप्रामाणिकता को ही स्वीकार किया है प्रत्युत 'न्याय सूत्र' मे विवेचित पदार्थों[1] का भी खण्डन करके इस मत को स्थापित करने का प्रयास किया है कि इस प्रकार पदार्थों की गणना सम्भव नही है[2] इस बात की सत्यता मे कोई सन्देह नही है कि चार्वाको ने प्रत्यक्ष को ही विश्वसनीय प्रमाण के रूप मे स्वीकार किया है, किन्तु क्योकि प्रत्यक्ष मे भी भ्रम उत्पन्न हो जाया करता है, अतः अन्त मे हम कह सकते है कि उनके अनुसार समस्त प्रमाण अनिश्चित होते हैं ।

चार्वाक दर्शन की तत्त्वमीमांसा

जगत का निर्माण चार भूतों से हुआ है

जगत् के मूल तत्त्वो के सम्बन्ध मे चार्वाको का मत उनके प्रमाण सम्बन्धी विचारो पर आधारित है । क्योकि प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है, अत हम केवल उन्ही वस्तुओ के अस्तित्व को मान सकते है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है ।

१- न्यायसूत्र १ । १ । १

२ न्यायमञ्जरी, पृ० ६४

ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग, जीवन की नित्यता, अदृष्ट आदि विषयो को नही माना जा सकता क्योकि इनका प्रत्यक्ष नहीं होता है । हमें केवल भूत पदार्थों (जड द्रव्यो) का ही प्रत्यक्ष होता है। अतः हम केवल उन्ही के अस्तित्व को स्वीकार कर सकते हैं। इस प्रकार चार्वाक भौतिकवाद का प्रतिपादन करते है।

चार्वाक भौतिक जगत् का अस्तित्व मानते है क्योकि यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है। भारतीय दार्शनिक प्राय· जगत् को पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश इन पाँच तत्वों से निर्मित मानते हैं। किन्तु चार्वाक आकाश तत्व की सत्ता को स्वीकार नही करते, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष नही होता है। प्रत्यक्ष गम्य होने के कारण वे पृथ्वी जल तेज और वायु को ही जगत् का उपादान मानते है। त्वक्, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पाँच ज्ञानेन्द्रियो की सत्ता को वे मानते है क्योकि इन्ही ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा स्थूल वस्तुओ का प्रत्यक्ष होता है। उनका मत है कि जिन वस्तुओ को इनके द्वारा नही जाना जा सकता उनका अस्तित्व नहीं है, कारण कि वे प्रत्यक्षगोचर नहीं हैं। तर्क रहस्य दीपिकाकार के अनुसार कुछ चार्वाक जगत को पचतत्त्वात्मक मानते हैं और आकाश को पाँचवाँ तत्व ।[1]

शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व नहीं है

चार्वाको ने एक ओर तो उन दर्शनो का विरोध किया जिन्होने नित्य आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया, जैसे जैन, न्याय, साख्ययोग और मीमासा आदि, तथा दूसरी ओर विज्ञानवादी बौद्धों का खण्डन किया जिनके अनुसार जीवन विभिन्न क्रमबद्ध और अव्यवहित चेतन अवस्थाओ का एक प्रवाह या सन्तान है। इस खण्डन का एक मात्र कारण यही था कि मृत्योपरान्त किसी भी प्रकार की सत्ता को उन लोगो ने स्वीकार नहीं किया। क्योकि उनके अनुसार कोई भी ऐसा नित्य तत्त्व नही है जो मृत्यु के पश्चात् स्थिर रहता हो, क्योकि शरीर बुद्धि और इन्द्रियो के कार्य, लगातार परिवर्तित होते रहते है, अत मृत्योपरान्त किसी सत्ता को मानने का कोई प्रश्न ही नही उठता, और ऐसी अवस्था मे किसी पृथक् आत्मा के अस्तित्व को नहीं स्वीकार किया जा सकता। पृथ्वी आदि चारों तत्वो के सम्मिश्रण से शरीर की सृष्टि होती है और इस शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई अन्य पदार्थ नही है। चैतन्य आत्मा का धर्म है, किन्तु इस चैतन्य का सम्बन्ध शरीर से होने के कारण शरीर को ही आत्मा मानने के लिए बाध्य होना पडता है। चैतन्य तथा शरीर का सम्बन्ध अनुभव द्वारा ही सिद्ध है। मैं मोटा हूँ, मै दुबला हूँ, मैं अधा हूँ, इत्यादि अनुभवो का ज्ञान हमे

---

१ तर्करहस्यदीपिका पृ० ३००

संसार मे प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध होता है। यहाँ पर मोटापन, कृशता (दुबलापन), अधापन का सम्बन्ध चैतन्य के साथ शरीर मे ही निष्पन्न होता है। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार भी चैतन्य का भौतिक पदार्थ के साथ सम्बन्ध सत्य प्रतीत होता है।[१] ब्राह्मीघृत के उपयोग द्वारा संस्कृत कुमार शरीर मे प्रज्ञा की पटुता उत्पन्न होती है। इतना ही नहीं प्रत्युत वर्षाऋतु में दही में बहुत ही शीघ्र छोटे-छोटे कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं। इन सब प्रमाणो के आधार पर शरीर मे चैतन्य मानना तर्क संगत है। अत: "चैतन्य विशिष्ट कायः पुरुष." यह बृहस्पति का सूत्र इसी सम्बन्ध मे कहा गया है। चार्वाक दर्शन में यही 'भूतचैतन्यवाद' कहलाता है।

यहाँ आक्षेप यह होता है कि चैतन्य का अस्तित्व तो किसी भी जड तत्त्व मे नही उपलब्ध होता, और जब तत्त्वों मे ही इसका अभाव होगा तो उनके योग से निर्मित शरीर में इसका प्रादुर्भाव कैसे हो सकता है? चार्वाकों का मत है कि जड़ तत्त्वों के संयोग द्वारा ही किसी वस्तु का निर्माण होता है। यह भी सम्भव है कि तत्त्वों मे यदि किसी गुण विशेष का अभाव भी रहे फिर भी उसकी उत्पत्ति उस निर्मित वस्तु मे हो सकती है। पान, चूना, सुपाड़ी में लाल रंग का अभाव है, किन्तु इनको जब एक साथ चबाया जाता है तो उनमें लाल रंग की उत्पत्ति हो जाती है। एक ही वस्तु को भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे रखने मे भी उसमें नए-नए गुणों का आविर्भाव होता है। गुड में मादकता का अभाव है, किन्तु सड जाने पर वह मादक हो जाता है। मदिरा के साधक द्रव्यों मे मद शक्ति नाममात्र को भी नही है, किन्तु मदिरा में मादकता का आविर्भाव अनुभव सिद्ध है। इससे स्पष्ट है कि किन्ही पदार्थों को एक विशेष प्रकार अथवा मात्रा मे सम्मिलित करने से अवस्था विशेष मे नवीन धर्म की उत्पत्ति स्वयं हो जाती है।[२] इसी प्रकार यदि जड़ तत्त्वो का भी सम्मिश्रण किसी विशेष ढग से हो तो शरीर की उत्पत्ति होती है और उसमे एक नए धर्म चैतन्य का आविर्भाव होता है।[३] शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है। शरीर से भिन्न यदि आत्मा का अस्तित्व नही है तो उसके अमर अथवा नित्य होने का कोई प्रश्न ही नही उठता। मृत्योपरान्त शरीर नष्ट हो जाता है और उसे ही जीवन का अन्त समझना चाहिए। अतः पूर्वजीवन, भविष्यजीवन,

१- न्यायमञ्जरी, भाग २, पृ० १३ (चौखम्भा संस्करण)

२- 'किण्वादिभ्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्'— बृहस्पतिसूत्र। 'किण्व' एक प्रकार का बीज होता था जिसका प्रयोग शराब बनाने मे किया जाता था।

३- जड़भूत विकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूलपूग चूर्णानां योगाद् राग इवोत्थितम् स० सि० स० २। ७

पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, कर्म भोगादि सभी की धारणायें निराधार है।

चार्वाकों मे आत्मा के विषय मे अनेक मत थे। सदानन्द ने इन मतों का उल्लेख किया है। कुछ चार्वाक एकदेशीय श्रुति तथा अनुभव के आधार पर इन्द्रियों को, कुछ प्राणों को और अन्य मन को आत्मा मानते थे।

सुशिक्षित चार्वाको का मत है कि जब तक शरीर बना रहता है, तब तक एक ऐसा तत्त्व है जो समस्त अनुभवो के द्रष्टा और भोक्ता रूप मे स्थिर रहता है। किन्तु शरीर के विनष्ट हो जाने पर इस प्रकार की कोई वस्तु नही रह जाती। यदि नित्य आत्मा की भाँति कोई वस्तु होती जो एक शरीर से दूसरे शरीर मे गमन करती रहती है, तो जिस प्रकार एक व्यक्ति अपने बचपन अथवा युवावस्था के अनुभवो का स्मरण करता है उसी प्रकार यह भी पूर्वजीवन की घटनाओं का स्मरण कर सकती थी।[1]

बौद्ध मत का खण्डन

किसी भी जीवन में चेतन अवस्थाओं की शृंखला पूर्वजीवन से मृत्यु के पूर्व अन्तिम चेतन अवस्था के कारण नही हो सकती,अथवा अन्य भविष्य जीवन मे चेतन अवस्थाओं की शृंखला का कारण किसी भी जीवन मे चेतना की कोई भी अवस्था नही हो सकती। बौद्धो के विरुद्ध चार्वाकों ने यह तर्क दिया है कि जो चेतना किसी भिन्न शरीर और पृथक् शृंखलाओं से सम्बन्धित है, किसी भिन्न शरीर से सबन्धित भिन्न चेतन अवस्थाओ की शृंखलाओ का कारण नही हो सकती। विभिन्न शृंखलाओ से सम्बन्धित ज्ञान की भाँति भूतकाल के शरीर की अन्तिम अवस्था की चेतना द्वारा कोई भी ज्ञान उत्पन्न नहीं किया जा सकता।[2] दूसरी बात यह है कि क्योंकि किसी सन्त की अन्तिम मानसिक अवस्था पृथक् जन्म मे अन्य मानसिक अवस्थाओं को उत्पन्न नही कर सकती, अतः यह कल्पना करनी व्यर्थ है कि मरते हुए व्यक्ति की अन्तिम मानसिक अवस्था किन्हीं मानसिक अवस्थाओ की शृंखलाओ को नवीन जन्म मे उत्पन्न कर सकती है। इसीलिए चार्वाक शिक्षक कम्बलाश्वतर ने कहा है कि प्राण, अपान और अन्य जीवन प्रेरक शक्तियो के विशिष्ट कार्यो द्वारा शरीर से ही चेतना की उत्पत्ति होती है। यह कल्पना भी निरर्थक है कि भ्रूण जीवन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में किसी प्रकार की चेतना प्रसुप्त अवस्था मे पड़ी रहती है, क्योंकि चेतना का अर्थ है विषयो का ज्ञान। भ्रूण-अवस्था में कोई चेतना नही हो सकती, कारण कि इस अवस्था मे किसी

१– न्यायमञ्जरी, पृ० ४६७

२– यदि ज्ञानम् न तद् विवक्षितातीतदेहवर्तिचरम् अज्ञान जनयम्।
ज्ञानत्वात यथान्यसन्तानवर्तिज्ञानम। कमलशील की पंजिका, पृ० ५२१

भी ज्ञानेन्द्रिय का उचित विकास नही हुआ करता। इसी प्रकार मूर्च्छावस्था मे भी कोई चेतना नहीं रहती, और यह मानना गलत है कि इन अवस्थाओं मे भी चेतना सक्षम शक्ति के रूप में विद्यमान रहती है क्योकि शक्ति के पूर्व कोई ऐसा विषय होना आवश्यक है जिसमे यह रह सके, और शरीर के अतिरिक्त चेतना के लिए कोई दूसरा आश्रय नही है, अतः जब शरीर नष्ट हो जाता है तो उसी के साथ चेतना भी समाप्त हो जाती है। यह भी नहीं माना जा सकता कि मृत्यु काल में चेतना का स्थान्तरण अन्य मध्यवर्ती शरीर मे हो जाता है, क्योकि इस प्रकार के शरीर का कभी कोई प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता, इसलिए इसे स्वीकार भी नही किया जा सकता। साथ ही दो पृथक् शरीरो मे एक ही प्रकार की चेतना की श्रृंखलाये भी नहीं हो सकतीं ; किसी हाथी की मानसिक अवस्थाये किसी घोड़े के शरीर में नही रह सकती।

बौद्धों द्वारा चार्वाक मत का खण्डन

चार्वाको की इस आपत्ति का बौद्धो ने इस प्रकार उत्तर दिया है कि यदि भविष्य जीवन के अस्वीकरण द्वारा चार्वाक किसी ऐसे नित्य तत्त्व की सत्ता, जिसका जन्म और पुनर्जन्म होता है, का खण्डन करते है तो बौद्धो को कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि वे लोग (बौद्ध) भी इस प्रकार की किसी नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। बौद्धो का मत है कि चेतन अवस्थाओ की एक अनादि और अनन्त श्रृंखला की अवस्थाओ को सत्तर, अस्सी अथवा सौ वर्षो के समय को एक साथ लेने पर वर्तमान, भूत अथवा भविष्य जीवन कहलाता है। अनादि और अनन्त रूप मे इन श्रृंखलाओ की विशेषता का निषेध करके चारवाकों ने गलती की है ; क्योकि यदि चार्वाको के मत को मान लिया जाय तो जन्म के समय एक ऐसी चेतन अवस्था को प्रथम मानना पड़ेगा जिसका कोई कारण नहीं हो सकता और ऐसी दशा में वह नित्य हो जायेगी, क्योकि जब बिना किसी कारण के इसका अस्तित्व था तो कोई बाधा नहीं है कि आगे इसका अस्तित्व समाप्त हो जाय। इसकी उत्पत्ति किसी नित्य चेतना अथवा ईश्वर द्वारा भी नहीं मानी जा सकती, क्योंकि इस प्रकार का कोई नित्य तत्त्व स्वीकार नहीं किया गया है ; यह भी माना जा सकता कि यह अपने आप नित्य है ; पृथ्वी, जल आदि के नित्य परमाणुओ द्वारा भी इसे उत्पन्न नही किया जा सकता, क्योकि कोई भी नित्य तत्त्व किसी वस्तु को उत्पन्न नही कर सकता। अतः अन्तिम विकल्प यही रह जाता है कि इसे पूर्व चेतना की अवस्थाओ द्वारा उत्पन्न माना जाय। यहाँ तक कि यदि परमाणुओ को क्षणिक भी मान लिया जाय तो यह सिद्ध करना कठिन होगा कि चेतना की उत्पत्ति उनके द्वारा होती है। कारणता के नियन्त्रण करने वाले सिद्धान्तो से स्पष्ट पता चलता है कि

(१) कारण के उपस्थित रहने पर भी कार्य उपलब्धि–क्षण प्राप्त होने के पूव अनुपलब्धक होता है।[1] यदि दो दृष्टान्त इस प्रकार के हो कि सभी अन्य अवस्थायें दोनो मे उपस्थित हों, फिर भी किसी एक तत्त्व के मिलने से एक दृष्टान्त मे किसी नवीन घटना की उत्पत्ति हो जाती है जो दूसरे मे उत्पन्न नही होती, तो वह तत्त्व उस घटना का कारण होता है।[2] दोनों दृष्टान्त जिनमे केवल इसी बात मे अन्तर है कि एक मे कार्य की उत्पत्ति होती है और दूसरे मे नही अन्य सभी परिस्थितियों मे मेल खाते है बनिस्बत इसके कि वह जिसमें कार्य उत्पन्न हुआ है उसमें एक नवीन तत्त्व को मिश्रित किया गया है जो दूसरे मे उपस्थित नही है, और केवल ऐसी ही अवस्था मे वह तत्त्व उस कार्य का कारण माना जा सकता है। वरना, यदि कारण की परिभाषा यह दी जाय कि जिसके अभाव में कार्य का भी अभाव होता है, उसे कारण कहते है, तो फिर ऐसी अवस्था मे अन्य तत्त्व, जिसका कि अभाव था, की उपस्थिति की वैकल्पिक सम्भावना रह जाती है, और ऐसा हो सकता है कि इस तत्त्व के अभाव के कारण ही कार्य का अभाव रहा हो। अत. दोनों दृष्टान्त, जहाँ एक मे कार्य की उत्पत्ति होती है और अन्य मे नही, इस प्रकार के होने चाहिए कि वे पूर्णरूप से हर दशा मे एक ही प्रकार के हो, बनिस्बत इस बात के कि जिस दृष्टान्त मे कार्य उत्पन्न होता है उसमे एक अधिक तत्त्व का भाव रहता है और अन्य दृष्टान्त मे उस तत्त्व का अभाव। शरीर और मन के मध्य इस प्रकार के संयुक्त अन्वय-व्यतिरेक विधि द्वारा कारणात्मक सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता। किसी व्यक्ति के अपने शरीर और मनस् के मध्य के सम्बन्ध के स्वभाव को समझने के लिए अन्वय विधि का प्रयोग नही किया जा सकता, क्योंकि मनस् की उत्पत्ति के पूर्व आरम्भिक भ्रूण अवस्था मे शरीर का निरीक्षण असम्भव है क्योकि बिना मनस् के निरीक्षण की सम्भावना नही हो सकती। अन्य शरीरों मे भी मनस् का निरीक्षण अव्यवहित रूप से नही हो सकता, अत यह कहना उचित नही है कि शरीर की सत्ता मनस् के पूर्व होती है। व्यतिरेक विधि का प्रयोग भी नही किया जा सकता क्योंकि कोई भी इस बात को प्रत्यक्षीकृत नही कर सकता कि शरीर के नष्ट होने पर उसका मनस् भी विनष्ट हो जाता है अथवा नही, और क्योंकि अन्य लोगों के मनस् को अव्यवहित रूप से प्रत्यक्षीकृत नही किया जा सकता, अत दूसरेलोगो से सम्बन्धित इस प्रकार का निषेधात्मक कथन सम्भव नही है। इस प्रकार इस विषय मे कोई भी मत व्यक्त नही किया जा सकता कि दूसरे लोगों के शरीरो

१- येषाम् उपलम्भे सति उपलब्धि लक्षण प्राप्तं पूर्वम् अनुपलब्ध सदुपलभ्वते इत्येवम् आश्रयणीयम्। कमलशील, पंजिका, पृ० ५२५

२- वही, पृ० ५२६

के नष्ट हो जाने पर उनका मनस् विनष्ट हो जाता है अथवा नही। मृत्यु के समय शरीर की निश्चलता द्वारा इस प्रकार का कोई भी अनुमान नही किया जा सकता कि इसका कारण मनस् का विनष्ट हो जाना है क्योंकि इसकी (मनस् की) सत्ता फिर भी रह सकती है और शरीर की गतिशीलता को बनाये रखने मे अक्रियाशील हो सकता है। साथ ही, मनस् के द्वारा एक विशिष्ट शरीर के गतिमान न होने का कारण यह है कि उस शरीर से सम्बन्धित जो इच्छायें और मिथ्याधारणायें क्रियाशील थी, उस समय अनुपस्थित हो गई। इसके अतिरिक्त अन्य भी हेतु है जिसके नाते शरीर को मनस् का कारण नही माना जा सकता, क्योकि यदि सम्पूर्ण शरीर मनस् का कारण था, तो शरीर की आंशिक आकृति भ्रष्टता भी मनस् के धर्म को परिवर्तित कर सकती थी, अथवा हाथी जैसे बृहत शरीर से सम्बन्धित मनस् को मनुष्य के मनस् से बृहत्तर होना चाहिए था। यदि एक में परिवर्तन होने से दूसरे मे कोई परिवर्तन नही होता है तो दोनो मे कारणात्मक सम्बन्ध नही हो सकता। यह भी नही का जा सकता कि सम्पूर्ण इन्द्रियो सहित शरीर मनस् का स्वरूप और धर्म भी परिवर्तित हो जायगा। किन्तु हम जानते है कि यह सच नही है, क्योकि जब पक्षाघात आदि रोगो मे उपघात के कारण कर्मेन्द्रिया अक्रियाशील हो जाती है तब भी बिना किसी विकार के मस्तिष्क अपना कार्य कर सकता है।[१] साथ ही, यद्यपि शरीर वही रहता है फिर भी मानसिक स्वभाव, चरित्र या स्वर में किसी हद तक परिवर्तन होता रहता है, अथवा उद्वेगो से युक्त हो जाने पर भी मस्तिष्क अस्थिर हो जाता है, यद्यपि शरीर वही है। ऐसे दृष्टान्तो के मिलने पर भी, जो यह सिद्ध करते हो कि शरीर का अवस्थाओं का मानसिक अवस्थाओ पर प्रभाव पड़ता है, कोई कारण नहीं है कि यह माना जाय कि शरीर के नष्ट हो जाने पर मनस् अथवा आत्मा की सत्ता भी समाप्त हो जाती है। यदि सह–स्थिति-नियम के आधार पर शरीर और मनस् को कारणात्मक सम्बन्ध से एक दूसरे को सम्बन्धित माना जाय, क्योकि शरीर उसी प्रकार मनस् से सह–अस्तित्ववान है जिस प्रकार मनस् शरीर से, फिर मनस् को भी उसी रूप मे शरीर का कारण स्वीकार किया जा सकता है। सह–स्थिति कारणात्मक सम्बन्ध की सिद्धि नही करती है, क्योकि दो वस्तुओं की सह-स्थिति एक तीसरे कारण के नाते हो सकती है जिस प्रकार तप्त ताम्र पिघल जाता है, उसी प्रकार यह भी माना जा सकता है कि ताप के द्वारा भ्रूणतत्व एक ओर तो शरीर को उत्पन्न करता है और दूसरी ओर मनस् अथवा

१- प्रसुप्तिकादिरोगादिना कार्येन्द्रियादीनाम् उपघातेपि मनोधीरविकृतकाविकला स्वसत्ताम् अनुभवति। कमलशील, पंजिका, पृ० ५२७

चेतना का अभिव्यक्तीकरण । अत शरीर और मनस् की सहस्थिति का वाछनीय अर्थ यह नही है कि शरीर मनस् का उपादान कारण है।

ऐसा व्यक्त किया गया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर हम कह सकते है कि यद्यपि उत्तरकालीन मानसिक अवस्थाये पूर्वकालीन मानसिक अवस्थाओ द्वारा उत्पन्न की जाती है, फिर भी प्रथम अभिव्यक्त चेतना का आरम्भ होता है और इसकी उत्पत्ति शरीर द्वारा होती है, अत बौद्धों का यह सिद्धान्त, कि चेतन अवस्थाओं की शृंखलाये अनादि है, दोषयुक्त है। किन्तु यदि प्रथम दृष्टान्त मे मानसिक अवस्थाये शरीर द्वारा उत्पन्न की जाती है, तो फिर उत्तरकालीन दशाओं में ये चाक्षुष अथवा अन्य ज्ञानेन्द्रियो द्वारा दूसरे तरीकों से नही उत्पन्न की जा सकती। यदि यह कहा जाय कि शरीर ज्ञान के आरम्भ का आदि कारण है, किन्तु उत्तरकालीन मानसिक अवस्थाओं का नही, तो फिर उत्तरकालीन मानसिक अवस्थाओ को स्वय इस योग्य होना चाहिए कि वे शरीर के आश्रित हुए बिना अपने को उत्पन्न कर सकें। यदि ऐसा मत व्यक्त किया जाय कि एक मानसिक अवस्था शरीर की सहायता से ही अन्य मानसिक अवस्थाओं की एक शृंखला को उत्पन्न कर सकती है, तो उनमे से प्रत्येक इस प्रकार की मानसिक अवस्थाओ की असीमित शृंखलाओ को उत्पन्न करने लगेगी, किन्तु इस प्रकार की अनन्त संख्या की शृखलाओ का अनुभव कभी नही होता। यह भी नही कहा जा सकता कि केवल प्रथम अवस्था मे शरीर चेतना को उत्पन्न करता है और बाद की समस्त अवस्थाओ मे शरीर केवल सहायक कारण के रूप मे विद्यमान रहता है, क्योंकि एक बार जो उत्पादक कारण रहा हो वह फिर सहायक कारण कैसे हो सकता है? अत: भौतिक तत्त्वों को अनित्य मानने पर भी, उन्हे कारण के रूप मे नही स्वीकार किया जा सकता। यदि वे मानसिक अवस्थाओ का कोई आरम्भ मानते है तो यह भी प्रश्न उठता है कि क्या मानसिक अवस्थाओं से उनका तात्पर्य ऐन्द्रिय-ज्ञान अथवा मानसिक प्रत्ययो से तो नही है? इसका तात्पर्य ऐन्द्रिय-ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि समस्त ज्ञानेन्द्रियो के वर्तमान रहने पर भी सुषुप्तावस्था, मूर्छा अथवा अनवधान की अवस्थाओं में कोई ऐन्द्रिय-ज्ञान नहीं होता, अत: ज्ञान के लिए ध्यान को आवश्यक पूर्व उपाधि मानना पडता है, और ऐसी अवस्था मे ज्ञानेन्द्रियों अथवा ज्ञान-शक्तियो को ही ऐन्द्रिय-ज्ञान का एक मात्र कारण नही माना जा सकता। मनस् को भी एकमात्र कारण नही माना जा सकता क्योंकि जब तक ज्ञान-सामग्री अथवा ज्ञान के विषयों का ज्ञानेन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्षीकरण न हो जाय तब तक मस्तिष्क उन पर क्रियाशील ही नही हो सकता। यदि मनस स्वय विषयो का ज्ञान प्राप्त करले तो फिर कोई अंधा अथवा

बहरा होता ही नहीं । युक्ति के लिए यदि मान भी लिया जाय कि मनस् ज्ञान को उत्पन्न करता है, फिर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार का ज्ञान निर्विकल्पक होता है अथवा सविकल्पक ; किन्तु जब तक पूर्व मे नाम और विषय (सकेत) का सम्बन्ध न जान लिया जाय तब तक कोई सविकल्पक ज्ञान नही हो सकता । इसे निर्विकल्पक ज्ञान भी नही कहा जा सकता, क्योकि निर्विकल्पक ज्ञान में विषयो का प्रतिनिधित्व उसी रूप मे होता है जिस प्रकार के वे हैं और बिना ज्ञानेन्द्रियो का सहायता के केवल मनस् उस रूप मे उनका ग्रहण नही कर सकता । यदि कहा जाय कि इन्द्रिय-सामग्री भी मनस् द्वारा ही उत्पन्न की जाती है तो यह चार्वाक की स्थिति को त्याग कर चरम अध्यात्मवाद को स्वीकार करना हो गया । अतः चेतन अवस्थाओ को अनादि और आरम्भरहित मानना चाहिए । उनके विशिष्ट धर्मों का निर्धारण पूर्व जीवन के अनुभवो द्वारा है, और इन्ही अनुभवों की सस्मृति के नाते ही, यहाँ तक कि नवजात शिशु मे भी स्तन–पान और भय की, सहज प्रवृत्ति पाई जाती है ।[1] अत. मानना ही पड़ेगा कि चेतन अवस्थाओं की उत्पत्ति न तो शरीर द्वारा ही सम्भव है और न मनस् द्वारा ही , वे अनादि है और उनकी उत्पत्ति पूर्व अवस्थाओ द्वारा होती है और इन पूर्व अवस्थाओ की अन्य पूर्व अवस्थाओ द्वारा, और इसी प्रकार । पैत्रिक चेतना को सन्तान की चेतना का कारण नही माना जा सकता, क्योंकि सन्तान–चेतना स्वभाव मे समान नही होती, और बहुत से ऐसे जीव है जो पैत्रिक उद्गम के नही है । अतः मानना ही पडता है कि इस जीवन की चेतन अवस्थाओ की उत्पत्ति वर्तमान जीवन से पूर्व जीवन की चेतन अवस्थाओं द्वारा होती है । इसलिए पूर्व जीवन की सत्ता सिद्ध हो जाती है और क्योकि इस जीवन की मानसिक अवस्थायें अन्य जीवन की मानसिक अवस्थाओ द्वारा निर्धारित की जाती है, इसलिए वर्तमान जीवन की मानसिक अवस्थाये भी निश्चित रूप से अन्य मानसिक अवस्थाओ को निर्धारित करने के लिए बाध्य है, और इसके द्वारा भविष्य जीवन का सत्ता स्थापित हो जाती है, हाँ, इन मानसिक अवस्थाओ को राग, द्वेष, क्रोध आदि उद्वेगों से सयुक्त होना आवश्यक है, क्योकि मानसिक अवस्थायें केवल उन्ही दशाओं मे अन्य मानसिक अवस्थाओ को उत्पन्न कर सकती है, जबकि वे राग, द्वेष, आदि उद्वेगों द्वारा प्रभावित हो और इन्हें नवजात शिशु वशानुक्रम द्वारा अपने पूर्व जीवन की मानसिक अवस्थाओ से प्राप्त करता है तथा जिनके द्वारा उसके वर्तमान जीवन के अनुभवो की शृंखलाओ

१- तस्मात्पूर्वाभ्यासकृत एवाय बालानाम् इष्टानिष्टोपादान परित्याग लक्षणो व्यवहार इति सिद्धा बुद्ध रनान्ति। , पंजिका पृ० ५३२

का निर्धारण होता है। यद्यपि पूर्व जीवन के अनुभवो (सस्कारों) का स्थान्तरण वर्तमान जीवन मे हो जाता है, फिर भी भ्रूण-काल के हस्तक्षेप के नाते उत्पन्न कठोर आघात के कारण ये अनुभव शैशवकाल मे अपने को तुरन्त प्रकाशित नही करते, किन्तु अवस्था के साथ धीरे-धीरे अभिव्यक्त होते रहते है। किसी व्यक्ति ने जिन बातो का पूर्व अनुभव कर लिया है, हमेशा उसे उनका स्मरण नही होता रहता है ; अतः स्वप्न और सज्ञाहीनता (उन्माद) की अवस्थाओं मे, यद्यपि पूर्व अनुभवों के तत्व वर्तमान रहते है, फिर भी वे विकृत रूप में पुनः निर्मित किए जाते है और अपने को स्मृति के रूप मे प्रदर्शित नही करते। अत शिशु द्वारा पूर्व अनुभवों का स्मरण साधारणतया नहीं हो पाता, यद्यपि कुछ ऐसे उपपन्न व्यक्ति होते है जो पूर्व जीवन के अनुभवो का स्मरण भी कर सकते हैं। आकार-रहित होने के कारण मनस् को शरीर पर अधिष्ठित अथवा उसमे अन्तरस्थ मानना दोषपूर्ण है। साथ ही, यदि मनस् शरीर में अन्तरस्थ है और उसी उपादान का बना हुआ है जिसका कि शरीर, तो फिर मानसिक अवस्थाओ का भी उसी प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिए जिस प्रकार शरीर का हुआ करता है। मानसिक अवस्थाओ का प्रत्यक्षीकरण केवल मनस्, जिसमे ये प्रकट होते है, ही कर सकता है, किन्तु शरीर का प्रत्यक्षीकरण उस मनस् तथा अन्य लोगों द्वारा भी हो सकता है, अतः ये दोनों पूर्णरूप से पृथक्-पृथक् धर्मो की है और इसलिए एक दूसरे से पूर्णरूपेण भिन्न है। शरीर सतत् परिवर्तित होता रहता है, किन्तु ये चेतन अवस्थाओं की एकात्मक शृंखलायें ही हैं जिनके द्वारा शरीर की एकता का ज्ञान होता है। यद्यपि वैयक्तिक चेतना प्रत्येक क्षण विनष्ट होती रहती है, फिर भी पूर्वजीवन, वर्तमान जीवन और भविष्य जीवन मे शृंखलाओ का एकत्व अपने सातत्य से बना रहता है। जब ये शृंखलाये भिन्न होती है, जैसे-एक गाय और एक अश्व मे अथवा दो पृथक् व्यक्तियों में, तो एक शृंखला की अवस्थायें दूसरी शृंखला की अवस्थाओं को प्रभावित नही करती। अतः मानना होगा कि एक शृंखला के अन्तर्गत एक चेतन अवस्था दूसरी चेतन अवस्था को निर्धारित करती है, दूसरी तीसरी को और इसी प्रकार। इसलिए हम निश्चित रूप से कह सकते है कि सामान्य अवस्था के अतिरिक्त अचेतन अवस्था मे भी चेतन सत्ता रहती है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो उस समय चेतना मे अवरोध हो जायगा और इसका अर्थ होगा शृंखला का खण्डित होना। चेतना की अवस्थाये ज्ञानेन्द्रियो और ज्ञान के विषय से स्वतन्त्र है क्योंकि वे अवस्थाओ से निर्धारित होती है। स्वप्नावस्था मे जबकि ज्ञानेन्द्रिया कार्यशील नही होती और जबकि किसी प्रकार का इन्द्रिय-

विषय मयोग नही होता, चेतन अवस्थायें लगातार उत्पन्न होती रहती है। भूत और भविष्य की घटनाओं अथवा शशक विषाण आदि की भाँति काल्पनिक वस्तुओ के ज्ञान से सम्बन्धित चेतन अवस्थाओ की स्वतन्त्रता को स्पष्ट रूप से निर्देशित किया जा सकता है। अत सिद्ध है कि चेतना न तो शरीर द्वारा उत्पन्न की जाती है और न किमी भी प्रकार इसके द्वारा निर्धारित अथवा स्थिर ही होती है, इसका निर्धारण केवल पूर्व अवस्थाओ द्वारा होता है और स्वयं यह भविष्य की अवस्थाओ को निर्धारित करती है। इस प्रकार भूत और भविष्य जीवन की सत्ता भी सिद्ध हो जाती है।

चार्वाक मत का जैन और नैयायिकों द्वारा खण्डन

चार्वाको के विरुद्ध जैन और नैयायिकों की युक्तियाँ विज्ञानवादी बौद्धो से कुछ भिन्न स्वभाव की है, कारण कि जहाँ बौद्धो ने नित्य आत्मा की सत्ता का निषेध किया है वही इन लोगों ने नित्य आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया है। अतः विद्यानन्दी ने अपने 'तत्त्वार्थ श्लोक--वार्तिक' मे लिखा है कि आत्मा को भूत (जड) पदार्थो से उत्पन्न न मानने का मुख्य कारण दिक्–काल अपरिच्छिन्न निर्विवाद अविराम और सामान्य स्वचेतना का तथ्य है। 'यह नीला है', 'मैं गोरा हूँ' इत्यादि प्रकारक प्रत्यक्ष बाह्य विषयो अथवा ज्ञानेन्द्रियो पर आधारित होते है, अतः इन्हें स्वचेतना की प्रकारात्मक स्थितियो के रूप मे नहीं माना जा सकता। किन्तु 'मैं प्रसन्न हूँ' इस प्रकार के प्रत्यक्ष जो अपरोक्ष रूप से 'अह' के आत्म प्रत्यक्ष की ओर संकेत करते है, कभी भी ज्ञानेन्द्रियो अथवा इस प्रकार के बाह्य साधनो की क्रियाओं पर आश्रित नही होते। यदि इस आत्म-चेतन को स्व–सस्थापित न माना जाय तो किसी भी सिद्धान्त, यहाँ तक कि चार्वाक मत जो कि समस्त प्रमाणित मान्यताओं को समाप्त कर देना चाहता है, के विषय मे दृढोक्ति नही की जा सकती, क्योकि सारे निश्चित कथन इसी आत्म-चेतना के द्वारा ही किए जाते है। यदि किसी चेतना को प्रमाणित होने के लिए अन्य चेतना की आवश्यकता होती है तो उस अन्य चेतना के लिए भी एक और चेतना की आवश्यकता होगी और इस प्रकार अनन्तता तक चला जायगा तथा चक्रक दोष उत्पन्न हो जायगा, और प्रथम चेतना को अचेतन स्वीकार करना होगा। क्योकि आत्मा स्वय स्व–सम्वेदन मे अभिव्यक्त होता है, और क्योकि अन्य भौतिक पदार्थो की भाँति शरीर भी ज्ञानेन्द्रियो की क्रियाशीलता के द्वारा प्रत्यक्षीकृत होता है, अत आत्मा शरीर से भिन्न है और शरीर द्वारा उत्पन्न नही किया जा सकता, और क्योंकि यह नित्य है इसलिए शरीर इसका अभिव्यक्ती-करण भी नही कर सकता। साथ ही क्योकि बिना ज्ञानेन्द्रियों के भी चेतना का

अस्तित्व रहता है, और क्योंकि शरीर और ज्ञानेन्द्रियों के उपस्थित रहने पर भी सम्भव है इसकी सत्ता न रहे (जैसा कि मृतक शरीर मे होता है), इसलिए चेतना को शरीर के आश्रित नही माना जा सकता। अतः शरीर से पृथक् रूपमे आत्मा का स्व-चेतना के साक्ष्य द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। विद्यानन्दी की अन्य युक्तिया विज्ञानवादी बौद्धो के आत्म - विषयक मत के खण्डन के सम्बन्ध मे दी गई है, अत. उनके विवेचन की यहाँ आवश्यकता नही है।[1]

'न्यायमजरी' मे जयन्त भट्ट ने इस प्रकार युक्ति दी है कि, शैशवावस्था से वृद्धावस्था की ओर शरीर सतत् रूप से परिवर्तित होता रहता है, अतः एक शरीर का अनुभव, जिसका निर्माण विनाश से हुआ है, नवीन शरीर से सम्बन्धित नही हो सकता, अतः अहं और प्रत्यभिज्ञान का तादात्म्य जो ज्ञान के आवश्यक तत्त्वो का सृजन करता है, शरीर से सम्बन्धित नही हो सकता।[2] इसमे कोई सन्देह नही है कि अच्छा भोजन और औषधियाँ जो शरीर के लिए सहायक है, बुद्धि की उचित क्रियाशीलता के लिए भी सहायक है। यह भी सत्य है कि दही हरी सब्जियों और नम स्थानो मे कीटाणु बहुत शीघ्र उत्पन्न हो जाते है। किन्तु इससे यह कदापि नही सिद्ध होता कि भौतिक पदार्थ ही चेतना के कारण है। आत्माये सर्वव्यापक है और जब भौतिक पदार्थो का समुचित रूपान्तरण होता हे तो वे उनके द्वारा अपने कर्मो की उपाधियो के अनुसार अपने को अभिव्यक्त करते है। साथ ही, चेतना को ज्ञानेन्द्रियो से सम्बन्धित भी नही माना जा सकता, क्योंकि विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय-ज्ञान के अतिरिक्त अहं अथवा आत्मा का भी सप्रत्यक्ष (Apperception) होता है जो इन विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय ज्ञानों को समन्वित करता है। जो कुछ भी मैं आँखों से देखता हूँ, उसकी हमें सम्वेदना होती है, अत. इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन्द्रिय-ज्ञान के अलावा वैयक्तिक द्रष्टा अथवा अहं भी है जो इन सम्वेदनाओं को समन्वित करता है, और इस प्रकार के समन्वयकर्त्ता के बिना विभिन्न प्रकार की सम्वेदनाओ की एकता को नही प्राप्त किया जा सकता। सुशिक्षित चार्वाको का मत है कि जब तक शरीर का अस्तित्व है तब तक एक प्रमातृ-तत्त्व (Perceiver) रहता है, किन्तु इस प्रमातृ-तत्त्व का पुनरागमन नहीं होता, प्रत्युत शरीर के विनाश के साथ उसका भी नाश हो जाता है, अतः आत्मा अमर नहीं है, और इस शरीर के

१- तत्त्वार्थ-श्लोक-वार्तिक, पृ० २६-५२

२- न्यायमंजरी, पृ० ४३६-४४१

विनष्ट हो जाने के उपरान्त कोई परलोक नही है।[1] इस का उत्तर जयन्त भट्ट ने यह दिया है कि, यदि शरीर–जीवन के मध्य एक आत्मा की सत्ता स्वीकार की जाती है, तो क्योंकि यह आत्मा शरीर से भिन्न है, और क्योंकि यह स्वभावत अविभाज्य तथा अभौतिक है, अत कोई भी ऐसी चीज नही हो सकती जो इसे विनष्ट कर सके। किसी ने भी आत्मा को मृतक शरीर की भाँति जलते हुए अथवा पक्षियों और जानवरो द्वारा टुकड़ो मे बदलते हुए नही देखा है। क्योंकि इसे कभी भी विनष्ट होते नही देखा गया, और क्योंकि किसी ऐसे कारण को अनुमानित करना भी सम्भव नही है जो इसे नष्ट कर सके, अत. इसे अमर मानना ही चाहिए। क्योंकि आत्मा नित्य है, और क्योंकि यह भूत और वर्तमान दोनों मे किसी शरीर से सम्बन्धित रहता है, अत यह सिद्ध करना कठिन नही है कि भविष्य मे भी यह किसी शरीर से सम्बन्धित रहेगा। अत:, आत्मा शरीर के न तो किसी विशेष भाग मे स्थिर रहता है और न सम्पूर्ण शरीर मे ही, वह सर्व व्यापक है और उस शरीर के संरक्षक रूप मे व्यवहार करता है जिससे वह कर्म-बन्धनो द्वारा सम्बन्धित हो जाता है। भट्ट जयन्त के अनुसार पुनर्जन्म अथवा मृत्योपरान्त आत्मा का अन्य शरीरो से सम्बन्ध ही परलोक है। 'न्यायमजरी' मे ही कहा गया है कि (१) नवजात शिशु के सहज रूप से मा का दुग्धपान करने अथवा उसके अनेक प्रकार के सुख और दु ख से तथा (२) शक्ति, बुद्धि, स्वभाव, चरित्र, आदतो आदि की असमानता अथवा एक ही प्रकार के प्रयत्न करने पर भी फल में असमानता द्वारा हम पुनर्जन्म को सिद्ध कर सकते है। वास्तव मे इनकी व्याख्या तभी हो सकती है जब हम इन्हें पूर्व जन्मो मे किए गए कर्मो का फल मान ले।[2]

शंकराचार्य द्वारा चार्वाक–मत का खण्डन

शकराचार्य ने 'ब्रह्मसूत्र'[3] की व्याख्या करते हुए लोकायतिको के आत्मा सम्बन्धी विचारों का खण्डन किया है। यहाँ विवेचित लोकायतिको की युक्तिया इस प्रकार दी गई है–क्योंकि शरीर के रहने पर ही चेतना का अस्तित्व रहता हैं और उसके विनष्ट हो जाने पर चेतना भी समाप्त हो जाती है,अत. इस चेतना को शरीर से ही उत्पन्न मानना चाहिए। जीवन गति, चेतना, स्मृति तथा अन्य बौद्धिक कार्यो को भी शरीर से ही सम्बन्धित मानना चाहिए, क्योंक उनका अनुभव

१- न्यायमंजरी, पृ० ४६७, ४६८

२- न्यायमजरी, पृ० ४७०–४७३

३- ब्रह्मसूत्र ३, ३, ५३–५४ पर शाकरभाष्य

केवल शरीर में ही होता है, उसके बाहर नहीं।[1] इसके उत्तर में शंकराचार्य का कथन है कि कभी-कभी शरीर के रहते हुए भी जीवन-गति, स्मृति आदि की सत्ता नहीं रहती (मृत्यु-समय पर), अतः उन्हें शरीर से उत्पन्न नहीं माना जा सकता, शरीर के गुण जैसे स्वरूप रंग आदि का प्रत्यक्ष प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है, किन्तु कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं जो चेतना और स्मृति आदि का प्रत्यक्षीकरण नहीं कर सकते। साथ ही, यद्यपि इनका प्रत्यक्ष तभी तक होता है जब तक जीवित शरीर का अस्तित्व है फिर भी कोई ऐसा प्रमाण नहीं है जिससे यह सिद्ध हो सके कि शरीर के विनष्ट हो जाने पर इसकी सत्ता नहीं रह जाती। और भी, जिस प्रकार अग्नि स्वयं को नहीं जला सकती और कोई भी नर्तकी अपने ही कन्धों पर नहीं आरूढ हो सकती, उसी प्रकार यदि चेतना शरीर का फल है तो इसके द्वारा शरीर का ज्ञान नहीं हो सकता। चेतना हमेशा एक है, अपरिवर्तनीय है, अतः वही अमर आत्मा है। यद्यपि सामान्य रूप से अपने को किसी शरीर से सम्बन्धित करके ही आत्मा अभिव्यक्त होता है, फिर भी इसका तात्पर्य केवल यही है कि शरीर इसका साधनमात्र है, किन्तु इससे यह कदापि सिद्ध नहीं होता कि आत्मा की उत्पत्ति शरीर से ही होती है, जैसा कि चार्वाक मानते हैं।

ईश्वर की सत्ता का खण्डन

ईश्वर का प्रत्यक्ष ज्ञान न होने के कारण, आत्मा की भाँति उसके अस्तित्व में भी विश्वास नहीं किया जा सकता। जड़-तत्वों के सम्मिश्रण द्वारा ही जगत की उत्पत्ति हुई है, अतः इसके लिए किसी स्रष्टा की कल्पना करना व्यर्थ है। अब यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या जगत् की सृष्टि के लिए जड़-तत्वों का सम्मिश्रण स्वयं हो जाता है? किसी भी वस्तु (कार्य) की उत्पत्ति के लिए उसके उपादान कारण के साथ ही साथ निमित्त कारण की भी आवश्यकता होती है। मिट्टी के घट का निर्माण करने के लिए जहाँ उसके उपादान कारण मिट्टी की आवश्यकता होती है, वहीं उसके निमित्त कारण कुम्भकार की भी आवश्यकता रहती है जो मिट्टी को घट का रूप प्रदान करता है। यदि चार्वाकों द्वारा स्वीकृत चारों भूतों को जगत् का उपादान कारण मान भी लिया जाय तब भी इनके अतिरिक्त एक निमित्त कारण अर्थात् ईश्वर की आवश्यकता होती है जो इन उपादानों द्वारा इस विचित्र जगत् की सृष्टि करता है। इसका उत्तर चार्वाकों ने यह दिया है कि जड़-तत्त्वों का स्वयं अपना-अपना स्वभाव है और उसी के अनुसार वे संयुक्त होते हैं और उनके स्वतः सम्मिश्रण द्वारा संसार की सृष्टि होती है। अतः

1- ब्रह्मसूत्र ३, ३, ५३ पर शांकरभाष्य

इस सृष्टि के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। इसके लिए भी कोई प्रमाण नही उपलब्ध होता कि इस ससार की सृष्टि किसी उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त हुई है। इसीलिए इस मत को 'यदृच्छावाद' भी कहते है। उनके अनुसार जड़-तत्त्वों के आकस्मिक सयोग द्वारा ही जगत् की उत्पत्ति मानना अधिक युक्ति-सगत है। स्वभाव से ही जगत् की विचित्रता की सृष्टि और स्वभाव से ही जगत् के लय की समस्या का समाधान करके चार्वाको ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं महसूस की। अत. चार्वाक मत अनीश्वरवादी है। इसलिए चार्वाको के अनुसार न जगत के स्रष्टा रूप मे, न जगन्नियन्ता के रूप मे, ईश्वर की अपेक्षा है। लोक मे प्रसिद्ध राजा ही परमेश्वर है—लोक सिद्धो राजा परमेश्वरः।

कर्म अथवा नैतिक नियम में अनास्था

कर्म-सिद्धान्त अर्थात् नैतिक नियम मे भी चार्वाको का विश्वास नहीं है। कर्म का उचित फल कर्म-नियम के ही अधीन होता है। इसी से शुभ कर्मों को करने से दु.ख की प्राप्ति होती है। कभी-कभी कर्म और उसके फल के मध्य दीर्घ व्यवधान होता है इसी कारण सस्कारो की कल्पना की जाती है। कर्म आत्मा मे अपने सस्कार छोड जाते है, जिनके परिपाक में समय लगता है और बाद मे फल की उपलब्धि होती है। चार्वाको ने इस प्रकार के सूक्ष्म, इन्द्रियातीत भावो को मानने से इनकार किया है और कर्म के नियम का भी निषेध करते है क्योकि इनका ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा नही हो पाता। ऐसी अवस्था मे उन्होने मोक्ष और पुण्य-पाप को भी नही माना है। कर्म का सिद्धान्त कल्पनामात्र होने के कारण पुण्य-पाप और इनके फल स्वर्ग-नरक आदि की सत्ता मे विश्वास करना निरर्थक है।[1]

चार्वाक दर्शन के नैतिक विचार

(घोर स्वार्थवादी सुखवाद)

चार्वाको की ज्ञानमीमासा और तत्त्वमीमासा से स्पष्ट है कि उन्होंने इस जगत् के अस्तित्व के अतिरिक्त अन्य किसी सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। अतः इन्ही मीमासाओं के आधार पर उन्होने मानव जीवन के कर्तव्याकर्तव्य की भी जोरदार समीक्षा की है। दार्शनिको ने धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार

१- षड्दर्शनसमुच्चय, पृ० ७१

पदार्थों को मानव मात्र के लिए उपादेय बतलाया है और पुरुषमात्र के लिए उपादेय होने के कारण इन्हें पुरुषार्थ नाम से विहित किया गया है। किन्तु चार्वाकों ने प्रथम तथा अन्तिम पुरुषार्थों के अस्तित्व में विश्वास नहीं किया है।

धर्म में अविश्वास

मीमांसक इत्यादि कुछ विचारक स्वर्ग को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य बतलाते हैं। पूर्ण आनन्द की अवस्था ही स्वर्ग है। इस लोक में वैदिक आचारों का अनुसरण करने से परलोक मे स्वर्ग की प्राप्ति होती है। किन्तु केवल भौतिक जगत् को ही सत् मानने वाले चार्वाकों ने स्वर्ग को नहीं माना है। जब स्वर्ग-सुख प्रधान लोक ही है, फिर उसके लिए शरीर को अनेक प्रकार की यातनायें देकर तपस्या करना और धन की हानि उठाकर यज्ञों का अनुष्ठान करना निरर्थक है। इस सन्दर्भ मे चार्वाकों ने वैदिक धर्म की बड़ी कटु आलोचना की है और उसके शिक्षकों को बहुत खरी खोटी सुनाई है। उनके अनुसार किसी कल्पित पारलौकिक सुख की प्राप्ति के निमित्त जीव विशेष की हत्या कर योग साधना करना प्रथम श्रेणी की मूर्खता है। इनके अनुसार स्वर्ग की प्राप्ति के लिए नरक से बचने के लिए अथवा प्रेतात्माओं की तृप्ति के लिए नैतिक कर्म करना सर्वथा व्यर्थ है।[1] उनका कहना है कि यदि श्राद्ध में दी हुई सामग्री प्रेतात्माओं की भूख मिटा सकती है तो किसी पथिक को भोजन साथ-साथ लिए फिरने की क्या आवश्यकता है ? उसके कुटुम्ब के लोग क्यों नहीं उसकी क्षुधा-शान्ति के लिए उसके घर पर ही भोजन अर्पित कर देते हैं ?[2] नीचे के खण्डों में अर्पित किए हुए भोजन से ऊपर रहने वालों की भूख क्यों नहीं मिट जाती ? यदि पुरोहितों का यह वास्तविक

१- न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवाऽऽत्मा पारलौकिकः।
नैव वर्णाश्रमादीनां क्रियाश्च फलदायिका ॥

अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुष हीनानां जीविका धातृनिर्मिता ॥

त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्त निशाचराः।
जर्फरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥

सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ४-५

२- मृतानामपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारणम्।
गच्छतामिह जन्तूनां व्यर्थं पाथेय कल्पनम् ॥

सर्वदर्शन संग्रह पृ० ५

विश्वास है कि यज्ञ मे बलिदान किया हुआ पशु स्वर्ग पहुँच जाता है तो पशुओ के स्थान पर वे लोग अपने माता-पिता को वलि पर क्यों नही चढा देते जिससे वे (माता–पिता) सीधे स्वर्ग जा सके ।[1]

धर्म और मोक्ष को जीवन का लक्ष्य नहीं माना जा सकता–अतः स्व-सुख की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य

भारतीय दार्शनिको ने प्रायः मोक्ष को जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना है । दु:खों के पूर्ण विनाश को ही मोक्ष कहते है । जहाँ कुछ विचारकों का मत है कि मोक्ष मृत्योपरान्त ही मिल सकता है, वही कुछ विचारक यह भी मानते है कि यह इसी जीवन में मिल सकता है । चार्वाकों ने इनमें से किसी मत को स्वी-नही किया है । उनका कहना है कि यदि मोक्ष का तात्पर्य आत्मा का शारीरिक वन्धन से छुटकारा पाना (मुक्त होना) है तो यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है क्योंकि आत्मा नाम की किसी वस्तु की सत्ता ही नही है । यदि मोक्ष का अर्थ इस जीवन–काल मे ही दु:खो का अन्त हो जाना समझा जाय, तब भी ऐसा सम्भव नहीं है क्योकि शरीर–धारण तथा सुख-दुःख में अविच्छेद्य सम्बन्ध है। दुःख को प्रयत्न के द्वारा कम किया जा सकता है और इस प्रकार सुख मे वृद्धि की जा सकती है किन्तु दु:खों की पूर्ण समाप्ति तो केवल मृत्यु द्वारा ही हो सकती है । इसीलिए 'ब्रहस्पति सूत्र' मे कहा गया है—मरणएव अपवर्ग ।

नैतिक दृष्टि से चार्वाक ऐन्द्रिय-सुखों को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं । खाओ-पीओ मौज करो क्योंकि यह शरीर एक दिन नष्ट हो जायगा और ऐसी कोई आशा भी नहीं है कि इसकी पुनः प्राप्ति हो सकेगी ।[2] जब परलोक का कोई अस्तित्व नहीं है, मृत्योपरान्त आत्मा की कोई सत्ता नही और धर्म केवल पुरोहितों के जीविका कमाने का साधन है तो स्वभावतः ऐसे मत मे हर प्रकार के मूल्यों को आभासमात्र ही समझा जाना किसी आश्चर्य की बात नहीं और इसीलिए चार्वाकों ने मानव—मूल्यों को रुग्ण मस्तिष्क की उपज माना है । चार्वाक के नैतिक सिद्धान्त को 'घोर स्वार्थवादी सुखवाद' कहा जा सकता है । उनके

१- पशुश्चेन्निहतः स्वर्गम् ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ।।

सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ५

२ - यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।

सर्वदर्शन संग्रह पृ० १

अनुसार इस जीवन में ऐन्द्रिय सुख, और वह भी केवल वैयक्तिक ही, जीवन का चरम लक्ष्य है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को भारतीय विचारक पुरुषार्थ मानते हैं, किन्तु चार्वाकों का मत है कि केवल अर्थ और काम को जीवन का लक्ष्य माना जा सकता है। बुद्धिमान व्यक्तियों को अर्थ और काम के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। इन दोनों में काम को ही अन्तिम लक्ष्य के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है। अर्थ को अन्तिम लक्ष्य नही माना जा सकता, यह तो काम प्राप्ति के निमित्त एक साधन मात्र है।

जिस मत मे प्रत्यक्ष ही एक मात्र प्रमाण है तथा भौतिक जगत् ही एक मात्र सत्य है, उसमे जीवन के किसी उच्च आदर्श की आशा नही की जा सकती। जब भौतिक जगत् ही चरम सत्य है, तो ऐहिक सुख ही परमश्रेय है। आत्मा, ईश्वर और परलोक के न मानने पर धर्म-अधर्म का भेद व्यर्थ है। सुख की कामना स्वाभाविक है और सुख के लिए मनुष्य जो भी करे वह उचित है। चार्वाकों के अनुसार सुख ही परमपुरुषार्थ है। कुछ व्यक्ति अपनी सहज प्रवृत्तियों को दबाकर सुख–दुःख से रहित अवस्था को प्राप्त करना चाहते है। उनका ऐसा करने का मुख्य कारण यह है कि प्रायः सुख के साथ दुःख भी मिलता रहता है। ऐसे व्यक्ति मूर्ख है। कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति अन्न को इसलिए नही त्याग देता कि उसमे भूसा लगा रहता है।[1] मछली में काटे अवश्य होते है किन्तु उनके कारण कोई मछली खाना नही छोड़ देता। पशुओं के द्वारा नष्ट किए जाने के भय से खेती करनी नही छोडी जाती है। भोजन का पकाना कोई इस लिए नही बन्द कर देता कि भिखमगे उसे मागेंगे।[2] हमारा अस्तित्व शरीर मे और केवल वर्तमान जीवन तक ही सीमित है। अतः इस शरीर द्वारा जो सुख उपलब्ध हो सकता है वही हमारा एकमात्र लक्ष्य होना चाहिए। जब तक जियें, सुख पूर्वक जिएँ, चाहे ऋण लेकर भी घृत–पान करना पडे। एकबार भस्म हो जाने पर इस अमूल्य देह का पुनरागमन नही होता।[3] परलोक के सुख की झूठी लालसा

१- त्याज्य सुख विषय सगमजन्म पुंसां।
दुखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा ॥
व्रीहीञ्जिहासति सितोत्तमतडुलाढ्यान।
को नाम भोस्तुषकणो पहितान्हितार्थी ॥
सर्वदर्शन सग्रह, पृ० २

२- नहिभिक्षुका. सन्तीति स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते।
नहिमृगाः सन्तीति शालयो नोप्यन्ते। सर्वदर्शन संग्रह, पृ० २

३ देखिए १ २ ४८

मे पड़कर इस जीवन के सुख को भी हमें नही त्यागना चाहिए। 'कल मयूर की प्राप्ति होगी इस आशा से हाथ में आये कबूतर को नही छोड़ा जाता। सन्देह युक्त स्वर्णमुद्रा से निश्चत कौड़ी ही अधिक मूल्यवान समझी जाती है। हाथ मे आये हुए धन को दूसरे के हाथ मे देना मूर्खता है।'[१] अतः मनुष्य का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह वर्तमान जीवन मे अधिक से अधिक कितना सुख प्राप्त कर सकता है और दुखों को अधिक से अधिक कितना कम कर सकता है। सफल जीवन वही कहा जायगा जिसमे अधिक से अधिक सुखो का भोग किया जाता है। शुभ कार्य वही है जिसके द्वारा दु:खो की अपेक्षा अधिक सुख प्राप्त होता है और अशुभ कर्म वह है जिसमे सुख की अपेक्षा दुख अधिक मिलता है। अत पाश्चात्य नैतिक शास्त्रियों की परिधि मे रखते हुए चार्वाक सम्प्रदाय को घोर स्व-सुखवादी ही कहा जा सकता है क्योकि उनके अनुसार सुख ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। इस प्रकार हम देखते है कि चार्वाक दर्शन मे शास्त्रों, धर्माधर्म तथा परलोक आदि को न स्वीकार करके यज्ञ आदि कर्मों का बहिष्कार किया गया है। तात्पर्य यह कि चार्वाको के लिए लौकिक आचार अथवा नीति के अतिरिक्त कोई धर्म मान्य नही था।

उपसंहार

हिन्दू, बौद्ध तथा जैन दार्शनिको ने चार्वाक मत की निन्दा जी खोल कर की है। इस निन्दा के यथार्थ होने मे कोई सन्देह नही, किन्तु इसका मूल आधार उनकी आचार मीमांसा ही है। जिस दर्शन मे धर्म के लिए कोई स्थान नही, पाप-पुण्य का अस्तित्व नही, घोर स्वार्थवादी सुखवाद ही मानव मात्र के लिए परमपुरुषार्थ है, वह मानव जीवन की गुत्थियों को सुलझाकर उनके लिए किसी आदर्श मार्ग की सृष्टि करेगा, यह आशा करनी व्यर्थ है। अतः चार्वाक मत मे दोषों का होना अनिवार्य है, किन्तु फिर भी उसकी विशेषताओ पर ध्यान न देना उसके साथ अन्याय करना है।

यावज्जीवेत्सुख जीवेदृणकृत्वा घृतंपिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः ॥

सर्वदर्शन सग्रह, पृ० ५

१. वरमद्य कपोतः श्वोमयूरात्,
वरम् सशयिकान् निष्कादसशयिकः,
कार्षापण इति लोकायिका ॥

कामसूत्र, १ २, २९ ३०

जहाँ तक चार्वाक दर्शन की ज्ञानमीमांसा का प्रश्न है, चार्वाक दर्शन में प्रत्यक्ष को ही एक मात्र प्रमाण माना गया है और केवल 'शब्द' का ही नही प्रत्युत अनुमान का भी खन्डन किया गया है। इसका तात्पर्य यही है कि भारतीय भौतिकवादी इस तथ्य को समझते थे कि तर्क द्वारा जिन निर्णयो पर हम पहुँचते है वे परमार्थ रूप मे सत् नही होते। वे जानते थे कि वे निर्णय यदि प्रत्यक्ष रूप मे नही तो परोक्ष रूप मे अवश्य ही किसी न किसी आगमनात्मक सत्य पर आधारित रहते है और बहुत अंशो मे सम्भावित मालूम पड़ने पर भी उन्हे यह सिद्ध करके नही प्रामाणित किया जा सकता कि वे निश्चित रूप से सत्य ही है। आज सूर्यास्त होने के उपरान्त कल पुन सूर्योदय होगा, इसी प्रकार की सफल भविष्यवाणी अन्य निर्णयो के विषय मे भी की जा सकती है। इसका कारण क्या है ? वही आगमनात्मक सत्य। अनुमिति ज्ञान के सम्बन्ध मे इस प्रकार की धारणा रखना कोई विलक्षणता नही है। वास्तव मे यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट पता चलता है कि भारतीय भौतिकवादी यहाँ उसी समस्या का समाधान निकालना चाहते थे जिससे आधुनिक तर्क शास्त्र का विद्यार्थी भलीभाँति परिचित है अर्थात् क्या अनुमिति ज्ञान पूर्ण रूप से सशय हीन और सत्य है।

इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि चार्वाको ने किसी आध्यात्मिक पुरुषार्थ मे विश्वास नही किया, वे केवल काम और अर्थ इन लौकिक पुरुषार्थो से ही सन्तुष्ट रहा करते थे। इसीलिए उन्हें इस प्रकार चित्रित किया गया है कि सदाचार से उन्हे कोई सरोकार नही था और वे 'ऋणं कृत्वा घृत पिबेत्' जैसे निन्द्य सिद्धान्तो का उपदेश देते फिरते थे। किन्तु यह कल्पना नही की जा सकती कि किसी गम्भीर विचारक ने इस प्रकार की शिक्षा का प्रचार किया होगा। भौतिकवादियो का यही आशय हो सकता है कि विश्व को धारण करने वाला ऐसा कोई उच्च पुरुषार्थ नही है जो अन्य पुरुषार्थो को अन्त मे पराजित कर सके। साथ ही यदि मान भी लिया जाय कि उन्होने ऋण लेकर भी घी पीने का उपदेश दिया तो भी कम से कम ऋण लेकर शराब पीने का उपदेश तो नही दिया। चार्वाको के दो वर्ग थे-धूर्त चार्वाक और सुशिक्षित चार्वाक। अत. स्पष्ट है कि सभी चार्वाक धूर्त तथा अशिक्षित नही होते थे। उनमे से अनेक सुशिक्षित होते थे जो उत्कृष्ट सुखो का अनुसरण करते थे। इसके लिए वे ललित कलाओ का अभ्यास करते थे। कुछ चार्वाक राजा को ईश्वर मानते थे अत. स्पष्ट है कि वे समाज तथा उसकी प्रमुख आवश्यकाओ को भी स्वीकार करते थे। लोकायत दर्शन मे दण्डनीति तथा वार्ता का भी विचार पाया जाता है, जिससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि उन्हे इस बात का ज्ञान था कि दण्ड का भय

न होने पर मनुष्य को पशुरूप मे परिवर्तित होने मे विलम्ब न लगेगा। अतः कुछ चार्वाक उच्छृ खल जीवन के पक्षपाती नही थे, प्रत्युत नियमबद्ध जीवन को ही सामाजिक आदर्श मानते थे।

वेद की प्रामाणिकता को अस्वीकार करने और ब्राह्मण पुरोहितो की निन्दा करने से चार्वाक दर्शन का किसी न किसी प्रकार ह्रास अवश्य हुआ, परन्तु यह नही कहा जा सकता कि इस सम्प्रदाय के नष्ट होने का मुख्य कारण केवल यही रहा, क्योंकि जैन और बौद्ध दार्शनिको ने भी वेदों की प्रामाणिकता को स्वीकार नही किया और ब्राह्मण पुरोहितो की निन्दा भी की है। ईश्वर की मान्यता को अस्वीकार करना भी उनके ह्रास का कारण नही बताया जा सकता, क्योकि जैन, बौद्ध, साख्य और मीमाँसा दर्शन भी ईश्वर की सत्ता मे विश्वास नही करते। आत्मा के अस्तित्व को अनित्य कथन करना भी उनके पतन का कारण नही हो सकता क्योंकि अधिकाशतः बौद्ध दार्शनिको ने भी ऐसा ही किया है। जड़ तत्त्वो की सत्यता के विषय मे अनेक वस्तुवादियो ने कुछ इसी प्रकार का मतव्य दिया है। मनस् की सत्ता को जड तत्वो से निर्मित होने का आग्रह भी उनके ह्रास का मुख्य कारण नही कहा जा सकता। वैयक्तिक सुखवाद प्रायः प्रत्येक मनुष्य मे पाया जाता है, वास्तव में आनन्द सभी चाहते है। अतः चार्वाक सम्प्रदाय के ह्रास का मुख्य कारण, मानव–मूल्यो को अस्वीकार करना ही कहा जा सकता है, क्योकि मनुष्य उन्ही के द्वारा जीवित रहने के योग्य होता है। चरम सुख ही लक्ष्य होता है, ऐन्द्रिय सुख उसकी छाया ही कहा जा सकता है। सुख मे केवल मात्राओ का ही नही प्रत्युत गुण का भी अन्तर होता है। किसी निम्न श्रेणी के जानवर का सुख वही नही है जो किसी दार्शनिक का। यही कारण है कि बाद मे धूर्त और सुशिक्षित चार्वाको मे अन्तर स्थापित किया जाने लगा। वात्स्यायन का 'कामसूत्र' यद्यपि ऐन्द्रिय सुखो पर बल देता है, फिर भी धर्म अथवा मानव-मूल्यो को ही जीवन का चरम लक्ष्य बतलाता है और इस बात पर बल देता है कि मानव-मूल्यों और ऐन्द्रिय सुखो मे समरूपता होनी चाहिए। उनके अनुसार धर्म, अर्थ और काम मे किसी प्रकार भी केवल एक पर ही बल नही दिया जाना चाहिए, वरन् एक सुगठित व्यक्तित्व के लिए तीनो पर समान बल देना ही आवश्यक है।[1] यदि इनमे सामंजस्य न स्थापित किया गया तो असामान्य व्यक्तित्व के बनने का भय अवश्य रहेगा। वात्स्यायन का सुख इसलिए शिष्ट समझा जाता है कि वे ब्रह्मचर्य, धर्म तथा नागरिक वृत्ति को अधिक महत्व देते है। इनके बिना

१- परस्परस्य अनुपघातकम् त्रिवर्गं सेवेत—

कामसूत्र, अध्याय २

मानव का सुख–भोग पशुओं के सुख–भोग से कुछ भी भिन्न नही है । ज्ञानेन्द्रियो की तृप्ति ही काम या सुख का मूल है । शरीर-रक्षा के लिए जिस प्रकार क्षुधा की तृप्ति आवश्यक है, उसी प्रकार इन्द्रियों की तृप्ति भी नितान्त आवश्यक है । किन्तु इन्द्रियों को ललित कलाओं के अभ्यास द्वारा सयमित बनाया जाना चाहिए । कोई भी व्यक्ति इन कलाओ के अभ्यास मे समर्थ तभी हो सकता है जबकि उसने बाल्यकाल मे ब्रह्मचर्य का पालन किया हो और वेदों का अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त किया हो । बिना शिक्षा के मनुष्य का सुख–भोग पशुओं के सुख–भोग से किसी भी प्रकार भिन्न नही हो सकता । अनेक सुखवादी ऐसे मिलते है जो वर्तमान सुख का किसी भी प्रकार परित्याग नही करना चाहते, वे जीवन में उचित सुख–भोग प्राप्त करने के लिए बाल्यकाल मे किसी भी कला का अभ्यास नही करते । वात्स्यायन के अनुसार ऐसा कार्य-कलाप घातक होता है, ऐसी मनोवृत्ति का व्यक्ति खेती करना अथवा बीज बोना भी छोड़ सकता है क्योंकि इसका फल तुरन्त न मिल-कर बाद मे प्राप्त होता है । वात्स्यायन ने सुख-लिप्सा को सयत रखने के लिए अनेक ऐतिहासिक दृष्टान्तो को उपस्थित करने की चेष्टा की है और यह दिखलाया है कि यदि हमारी प्रवृत्तियाँ धर्म और अर्थ मे सामंजस्य स्थापित न कर सकीं तो वे सर्वनाश का कारण हो सकती है और सुख–भोग की सभी सम्भवनाओ को नष्ट कर सकती है । उनका कथन है कि सुख–भोग की अवस-थाओं तथा साधनों का विचार–विनिमय करना चाहिए । यह सही है कि साधारण जनता विचार या अध्यन करके काम नही करती, किन्तु उनके मध्य जो थोड़े से मनीषी होते है उनके विचार अज्ञात रूप से जन–साधारण तक पहुँच जाते है और सामान्य लोग उनसे लाभ उठाते हैं । इस प्रकार हम देखते है कि वात्स्यायन एक विचारशील सुखवादी थे और उनके विचारों का आज भी काफी महत्व है । यद्यपि यह सत्य है कि मनुष्य भी पशु की प्रवृत्तियों को प्राप्त किए रहता है, पशुओ की भाँति इन्द्रिय–सन्तोष भी उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार क्षुधा अथवा प्यास की तृप्ति, किन्तु इसके साथ ही साथ वह मनोवैज्ञानिक और नैतिक जीव, चिन्तक और स्वचेतन प्राणी भी है जो मूल्यो के विषय मे अपना मत प्रकट करता है । अत उसे पशुओ की भाँति ऐन्द्रिय सन्तोषो से सन्तुष्ट न रहकर इस पशु–प्रवृत्ति को शिष्टता, स्वनियन्त्रण, शिक्षा, सस्कृति और आध्यात्मिक अनुशासन के द्वारा मानव मूल्यो मे परिणत कर देना चाहिये ।

इस प्रकार हम कह सकते है कि जहाँ चार्वाक दर्शन ने अनेक अवांच्छ-नीय धारणाओं का प्रसार किया वहीं उसकी भारतीय दार्शनिको को बहुत कुछ

देन भी है। उसने भारतीय दर्शन को हठ विश्वास से बचाया। इसकी पुष्टि मे इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्राय: सभी भारतीय दर्शनो ने पूर्व पक्ष के रूप मे चार्वाक मत का सकेत करके उनके आक्षेपों को दूर करने का प्रयास किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उनके विचारो के मूल्यांकन की कसौटी चार्वाक सिद्धान्त ही था। संक्षेपत', एक ओर तो चार्वाको ने अनेक दार्शनिक समस्याओ को उपस्थित करने का प्रयास किया और दूसरी ओर इसके कारण अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ और वे हठ विश्वास से बच सके तथा अपने विचारों का युक्तिपूर्वक विवेचन करने मे सफलता प्राप्त की।

४

अन्य भारतीय दर्शनों में भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ

भौतिकवाद की एक मुख्य धारा वैदिककाल या उसके पूर्व से भी चली आ रही है यद्यपि उसे चिन्तन और तर्क का अधिक बल नही मिला किन्तु जन-साधारण की अभिरुचि और मान्यतायें उसका सबसे अधिक समर्थन करती रही है। यही कारण है कि वैदिक और श्रमण परम्परा के अन्य दार्शनिक भी भौतिक वादी प्रवृत्तियो से पूर्णतः मुक्त नही रह सके। उनकी चिन्तन धारा मे भौतिकवादी तत्त्व किसी न किसी रूप मे विद्यमान रहे हैं। हम इन दर्शन पद्धतियों का संक्षिप्त विवेचन कर उनकी भौतिकवादी प्रवृत्ति पर प्रकाश डालेंगे। पहले हम श्रमण परम्परा की दो धाराओ मे से जैन–दर्शन को लेते हैं।

जैन–दर्शन

जैन-दर्शन की स्थिति भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के मध्य है। इसने द्वैतवादी वस्तुवाद स्वीकार किया है। जीव और अजीव दो चेतन और जड सत्तायें नित्य विद्यमान है। यहां जड़ जगत की सत्ता उसी प्रकार स्वीकार की गयी है जैसे भौतिक वादी स्वीकार करते हैं। किन्तु चेतना जड़ तत्त्वों की उत्पत्ति न होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती है।

वस्तुतः किसी भी दार्शनिक रूपरेखा का आधार ज्ञान–मीमांसा की मान्यतायें होती हैं। भौतिकवादी प्रायः प्रत्यक्ष को ही प्रामाणिक ज्ञान मानते है। प्रत्यक्ष ज्ञान के भी दो पक्ष हैं—ज्ञाता और ज्ञेय। शुद्ध भौतिकवाद ज्ञेय प्रधान है। द्वैतवाद मे ज्ञाता और ज्ञेय की स्थिति एक समान है। अध्यात्मवाद मे ज्ञाता ही प्रधान है। जैन–दर्शन मे हेमचन्द्र ज्ञान को स्वबोधक्षम और अर्थबोधक्षम मानते हैं। इसका तात्पर्य है कि ज्ञाता की चेतना स्वय प्रकाशित होती है और उसके द्वारा जड वस्तुओं की सत्ता भी प्रकाशित होती है। इसलिए यह स्वपर व्यवसायी ज्ञान कहलाता है।[1] इस प्रकार के ज्ञान मे वाह्य वस्तुओं को भौतिक सत्ता सहज

---

१ परीक्षामुख ५ १ ४

स्वीकृत होती है।

प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है-पारमार्थिक और व्यावहारिक। जीव कर्म-बन्धन से मुक्त होकर जब अपने आप को जानता है और उसे जगत् के सभी विषय बिना मन और इन्द्रियों की सहायता लिए सर्वदा भासित होते है, तो उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते है। संसारी जीव को वस्तुओं के ज्ञान के लिए इन्द्रियों और मन की चेष्टाओं पर निर्भर रहना पड़ता है। इस प्रकार का ज्ञान व्यावहारिक प्रत्यक्ष है। दोनों प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान भौतिकवादी दृष्टिकोण का समर्थक है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष यद्यपि अतिभौतिक प्रतीत होता है किन्तु उसमे भी वस्तु जगत् अपनी स्वतन्त्र सत्ता नही खोता।

इसके अतिरिक्त, जैन दर्शन मे सामान्यतः प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार के ज्ञान माने गये है, कहीं-कहीं विशेष रूप से औपम्य और आगम ज्ञान को सम्मिलित कर चार प्रकार का ज्ञान माना गया है।

अनुमान परोक्ष ज्ञान है। इसमे हेतु द्वारा साध्य का ज्ञान होता है। हेतु और व्याप्ति के विषय मे जैनियों के अपने कुछ विचार हो सकते है, किन्तु उससे भौतिक जगत की सत्ता का निषेध नही होता।

तत्व-विचार की दृष्टि से जैनों ने सात तत्व माने है—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनमे से पहले दो तत्त्व द्रव्य हैं। जीव शुद्ध चेतन स्वरूप है। उसमे स्वभाव से ज्ञान और दर्शन है। वह अमूर्त है किन्तु जिस शरीर मे रहता है उसमें उसका वही आकार होता है। वह शरीर और इन्द्रियो के संयोग से कर्म करता है और अज्ञान की दशा में कर्म-पुद्गल उसमे प्रवेश करता है तथा वह बन्धन मे पड जाता है। वह नित्य परिणामी है। इसमें संकोच और विकास दो गुण है। इसलिए वह प्राप्त शरीर का आकार धारण कर लेता है। वह अरूप होने के कारण इन्द्रिय गोचर नही है।

शरीर की संरचना के ऊपर जीव की चेतना की अभिव्यक्ति निर्भर करती है। पेड़-पौधों में उसकी चेतना कम भासित होती है, पशु-पक्षियो में उसका प्रकाश बढ़ता दिखाई देता है। मनुष्य मे वह अधिक चेतन है। मनुष्यो में भी जो कर्म-बन्धन से मुक्त हैं उनमे इस चेतना का प्रकाश सबसे अधिक है। शरीर के नष्ट होने पर आत्मा नष्ट नही होता। जब तक उस पर कर्म का लेप है उसका जन्म-मरण चलता रहता है।

चेतना के विषय में जैन-दर्शन की यह मान्यता सिद्ध करती है कि चेतन द्रव्य और अचेतन द्रव्य उस प्रकार प्रतिगामी और विरोधी नही है जैसे देकार्त के दर्शन में। यहाँ जड़-चेतन एक-दूसरे पर प्रतिक्रिया कर सकते है। शुद्ध आत्मा मे भी कुछ ऐसा भौतिक गुण है जिसके कारण उसमें कर्म-पुदगल प्रविष्ट हो सकता

है और स्वय उसमें भी घटा-बढ़ी हो सकती है। दीपक के प्रकाश का दृष्टान्त जीव की चेतना मे भौतिकता का संकेत देना है। जीवों की अनेकता और पृथकता भी भौतिकता के प्रभाव के कारण ही हो सकती है। किन्तु डेल रिपे का यह कथन कि जैनियों की जीव विषयक अवधारणा इस अर्थ में चार्वाक मत के अनुसार ही है कि निम्न स्तर पर वह कर्म-पुद्गल से लिप्त रहता है,[1] उचित नही है। जैनियो ने जीव को अजीव से पृथक रखकर उसे कुछ परिष्कृत रूप अवश्य दिया है। यह बात दूसरी है कि उसे आध्यात्मिक रूप देने में वे उसे भौतिकता से पूर्णरूपेण न छुड़ा सके हों।

अजीव के पाँच भेद है— पुद्गल, धर्म (गति), अधर्म (अगति), आकाश और काल। इनके भौतिक रूप मे तो किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। पुद्गल आदि द्रव्य वास्तविक और नित्य है। उत्पत्ति व्यय और ध्रौव्य उनके गुण होते हुए भी वे किसी न किसी रूप मे नित्य सत्तावान है। अणु रूप में विभक्त हो जाने पर भी उनका नाश नही होता है। इनकी उत्पत्ति किसी चेतन तत्त्व से नही हुई और न कोई चेतन सत्ता उनकी उत्पति और स्थिति मे सहायक होती है। इनके अपने स्वय गुण-धर्म हैं जिनके कारण सृष्टि बनती बिगड़ती रहती है। हम यह कह सकते हैं कि चार्वाक के भौतिक जगत की तुलना मे जैनियों के भौतिक जगत में कोई तात्विक भेद नहीं है। केवल भौतिक तत्त्वों के विभाजन, वर्गीकरण और व्यवस्था पर कुछ गम्भीर चिन्तन किया गया है और इसमें होने वाली गति की व्याख्या करने का प्रयास हुआ है।

जैनियों ने ईश्वर जैसी किसी अतिभौतिक सत्ता को अस्वीकार ही नही किया वरन् न्याय-दर्शन में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए दिए गये तर्कों का दृढतापूर्वक खण्डन भी किया है। यह प्रवृत्ति चार्वाक मत के अनुकूल ही है। बौद्ध मत में ईश्वर की सत्ता का खण्डन करने में ऐसी तत्परता नही दिखाई गयी। जैन-दर्शन मे यदि कुछ अभौतिक तत्त्व स्वीकार किया है तो वह है अलोकाकाश और मुक्त जीव। मुक्त जीव अलोकाकाश मे वास करता है और वही उसे जानता भी है। संसारी जीव न उसे जानते है और न उस ऊँचाई तक पहुच सकते है।

जैन नीतिशास्त्र में पंचमहाव्रतों का बड़ा महत्व है। उनका अभ्यास करने से जीव कर्म-बन्धन से छूटकर मुक्त हो सकता है। मुक्ति उसकी सर्वोपरि उपलब्धि है। मुक्त होकर जीव अमर हो जाता है। उसे फिर शरीर धारण करना और छोड़ना नही पडता। यह मान्यता चार्वाकों के भौतिकवाद से अलग हटकर है। किन्तु इस नैतिकता मे कुछ भौतिकवादी तत्त्व भी स्पष्ट दिखाई देते हैं।

1 Dale Riepe- The Naturalistic Tradition in Indian Thought p 99

जैनियो का कर्म एक भौतिक तत्त्व है। वह कर्म-पुद्गल कहलाता है। जड होने पर भी वह स्वयं जीवो को फल देता है और सुख-दु ख का अनुभव कराता है। उसके पीछे ईश्वर या कोई देवता नही है जिसकी आज्ञा से कर्म अपना फल देता हो। इसे स्पष्ट भौतिकवादी प्रवृत्ति कह सकते है। जीव अपनी मुक्ति स्वय अपने प्रयास से करता है। परम्परागत प्राप्त जैन-धर्म के अतिरिक्त उसका और कोई सहायक नही है। उसकी सहायता करने के लिए न ईश्वर है, न कोई देवता। इसलिए जैन नीतिशास्त्र प्रकृतिवादी और मानवतावादी है।

बौद्ध दर्शन

जैन मत की परम्परा कुछ प्राचीन भले ही हो किन्तु उसकी मान्यताओ को स्थिर रूप उसी समय प्राप्त हुआ जब बौद्ध धर्म का उदय हुआ और उस समय की माग के अनुसार जैन और बौद्ध दोनों सम्प्रदायों में नैतिकता को प्रधान स्थान देकर व्यावहारिक जीवन दर्शन प्रशस्त किया गया। ईसा से ५०० वर्ष पूर्व देश मे एक ओर वैदिक धर्म एक हजार वर्ष से भी पुराना हो चुका था और व्यावहारिक जीवन मे वह अनेक अंधविश्वासो और विकृतियों से घिर चुका था तथा दूसरी ओर वैदिक धर्म के विरोधी उपक और आजीविक अधर्म और अनैतिकता का प्रचार कर रहे थे जिनके लिए न कुछ पाप-पुण्य था, और न आत्मा-परमात्मा जैसी कोई नियामक सत्ता थी। ऐसे समय मे नैतिकता प्रधान सरल दर्शन सिद्धान्तो पर आधारित जीवन जीने की शिक्षा अपेक्षित थी। इस माग की पूर्ति करने के लिए महावीर और गौतम बुद्ध दोनो ने प्रयास किया। स्वभावतः वे तत्कालीन परम्परावादी और प्रतिक्रियावादी दोनों धाराओं से अलग रहे किन्तु उनके प्रभाव से बचना उनके लिए असम्भव था।

गौतम बुद्ध का जन्म ५६७ ई० पू० हुआ था। दुःख निवृत्ति के लिए राज्य त्यागकर वन मे मुनियों से शिक्षा ग्रहण करते हुए अनेक जगह घूमते रहे और अन्त में गया मे उन्हें बोध प्राप्त हुआ। वे सर्वज्ञ हो गये। तृष्णा का क्षय हो गया। उसके उपरान्त वे शान्तिमय जीवन व्यतीत करते हुए और अपने अनुयायियों को शिक्षा देते हुए विचरण करते रहे। उन्होंने जो कुछ शिक्षा दी वह मौखिक थी। उन्होने न स्वय कोई ग्रन्थ लिखा और उनके शिष्यो ने। उनके जीवनकाल के सौ वर्ष बाद उनकी परम्परा के शिष्यो ने उनकी शिक्षा का सग्रह किया जो ग्रन्थ रूप में पिटक नाम से विख्यात हुए।

गौतम बुद्ध चार आर्य सत्यों की शिक्षा देते थे— दु ख है, दु ख का कारण है, दुःख निरोध है और दु ख निरोध गामिनी प्रतिपत् है। इस प्रतिपत् के आठ अग हैं, इसलिए इस योग कहते हैं जो पतञ्जलि के योग स पूर्वक है

इसके आठ अंग है— सम्यक् ज्ञान, संकल्प, वचन, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति और समाधि। इसके अभ्यास से द्वादश निदान वाले भवचक्र का अन्त हो जाता है।[1]

बुद्ध की इस नैतिक शिक्षा में किसी अभौतिक तत्त्व या ईश्वर की आवश्यकता नहीं मानी गयी है। इसमें आत्मा का भी कहीं उल्लेख नहीं है। इसलिए इसे भौतिकवादी नीति शास्त्र तो कह सकते है किन्तु इसका लक्ष्य विषय सुख नहीं है। इसका उद्देश्य जीवन के समस्त दुःखों से छुटकारा मात्र है।

बुद्ध के दार्शनिकों का आधार उनका क्षणिकवाद का सिद्धान्त है। इसके अनुसार संसार में सब कुछ क्षणिक है। स्थूल-सूक्ष्म, शारीरिक-मानसिक कुछ भी एक क्षण से अधिक नहीं टिकता। इस परिवर्तन के मूल में कोई भौतिक या आध्यात्मिक नित्य वस्तु नहीं है। इसलिए यदि नित्य वस्तु को सत् माने तो यहाँ कुछ भी सत् नहीं है। जगत का परिवर्तन एक निराधार प्रवाह मात्र है। जगत को नित्य विद्यमान या उसका उच्छेद मानना दोनों अतिवादी विचारधारायें है। मध्यम मार्ग का अनुसरण करने वाले बुद्ध कहते है कि इन दोनों के बीच की स्थिति अर्थात परिवर्तन ही सत्य है।[2]

मनुष्य का शरीर भी प्रतिक्षण बदल रहा है। शिशु से बालक, बालक से किशोर, किशोर से युवा, युवा से प्रौढ़ और प्रौढ से वृद्ध होता हुआ मनुष्य बदल रहा है। मानसिक चेतना भी प्रति क्षण बदल रही है। नित्य आत्मा जैसी कोई वस्तु नहीं है। बुद्ध का यह सिद्धान्त भौतिकवाद का ही समर्थन करता है।

सामान्य रूप से अस्तित्व और क्षणिकता में विरोध दिखाई देता है किन्तु अर्थ-क्रिया-कारित्व के रूप में उस अस्तित्व पर विचार करे तो स्पष्ट हो जाता है कि यह कोई विरोध नहीं है। स्थायी सत्ता मानने में आत्म व्याघात है। अस्तित्व का अर्थ है कार्य क्षमता। इसके अनुसार अस्तित्व संसार के पदार्थों की व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन करने की क्षमता का नाम है। यदि पदार्थ स्थायी हो तो संसार में किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। जड जगत् में जो भी गति दिखाई दे रही है वह अर्थक्रियाकारित्व और क्षणिकत्व के कारण है। ये दोनों गुण संसार की सभी वस्तुओं में विद्यमान है। जैन-दर्शन में जड़ जगत् में क्रिया सम्भव बनाने के लिए धर्म (गति) और अधर्म (अगति) दो तत्त्व माने गये है। वह अवैज्ञानिक कल्पना प्रतीत होती है। उसकी अपेक्षा बौद्ध मत अधिक उपयुक्त है।

बौद्धों के क्षणिकवाद और अर्थक्रियाकारित्व को ध्यान में रख उनके

१- संजुत्त निकाय १४. २

२- संजुक्त निकाय २—१७, ३-१३५

प्रतीत्य–समुत्पाद को समझा जा सकता है। यह कार्य–कारणता का सिद्धान्त है। कारण पर आश्रित होकर ही कार्य की उत्पत्ति होती है। हर वस्तु सापेक्ष है, निरपेक्ष कुछ भी नही है। हर वस्तु प्रतिक्षण उत्पन्न होती प्रतीत होती है इसलिए प्रतीत्य–समुत्पाद है। यही जगत का धर्म है। इसे जानकर ही वे बुद्ध हो गए थे। उनका दु:ख मिट गया था। इसका तात्पर्य है कि भौतिक जगत की वास्तविक प्रकृति जान लेने से अज्ञान और दु:ख मिट जाता है। वेदान्त-दर्शन मे चित्स्वरूप परमात्मा को जान लेने पर अज्ञान और उसके कार्य मिटते है। उससे बौद्ध–दर्शन के ज्ञान की तुलना करें तो इसमे भौतिकवाद का निषेध या भौतिकवाद से विरोध नही मिलता।

उपर्युक्त मूल सिद्धान्तो पर ही बुद्ध का कर्म-सिद्धान्त और पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी आश्रित है। किए हुए कर्म चित्त मे सस्कार उत्पन्न करते है। सस्कार ही सचित और प्रारब्ध कर्म का रूप धारण करते है और उन्ही के अनुसार व्यक्ति को सुख-दु.ख का अनुभव होता है और जन्म मरण की शृ खला भी चलती है। मनुष्य अपने कर्मों का फल भोगने से बच नही सकता। यह कर्म-विधान इतना यान्त्रिक नही है कि मनुष्य अपने कर्मों में सुधार ही न कर सके और सदा इस कर्म–चक्र मे चक्कर काटता रहे। मनुष्य को कुछ कर्म स्वातंत्र्य भी प्राप्त है। गौतम बुद्ध की यह मान्यता आजीविको और चार्वाको के मत से विपरीत है। वे कोई कर्म-सिद्धान्त नही मानते। बुद्ध ने कर्म–सिद्धान्त मानकर प्राणियों के वैचित्र्य और उनके द्वारा भोगे जा रहे सुख-दुख का निदान अवश्य किया किन्तु उन्होने अपने को ईश्वरवाद से अलग रखकर भौतिकवाद के नियति-वादी सिद्धान्त की रक्षा की है। इस प्रकार वे यहाँ भी भौतिकवादी परिधि के बाहर नही जाते।

गौतम–बुद्ध पुनर्जन्म को सम्भावित मानकर भी कोई ऐसा नित्य आत्मा नही मानते जो एक शरीर छोडकर दूसरे शरीर मे प्रवेश करे। जिन दर्शनो मे पुनर्जन्म स्वीकार किया गया है उनमे शरीर से भिन्न आत्मा जीव या पुरुष का अस्तित्व माना गया है। वह शरीर नष्ट होने पर नष्ट नही होता और अपने कर्म के मूल्यानुसार अगला शरीर प्राप्त करता है। बौद्ध ऐसा कोई आत्मा न स्वीकार करते हुए भी पुनर्जन्म स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जब मनुष्य मर जाता है, उसका भौतिक शरीर जो उसके भौतिक जीवन का आधार है नष्ट हो जाता है तो उसका वह जीवन समाप्त हो जाता है। पुनः शरीर धारण करने वाला व्यक्ति वह नही है जो मर गया था किन्तु वह केवल चरित्र ही है जो बराबर रहता है।[1] यह चरित्र कर्म निर्मित होता है जो एक शरीर से दूसरे

१- अभिधर्मकोष ३ २४

शरीर मे जाता है। यह चरित्र ही एक परिवर्तनशील चेतना है जो एक शरीर से निकल कर किसी गर्भ मे प्रवेश कर शरीर धारण कर लेती है। यह परिवर्तनशील चेतना भी नित्य नहीं है। निर्वाण प्राप्त होने पर वह दीप शिखा के समान शान्त हो जाती है।

आत्मा के सम्बन्ध मे दो अतिवादी मत हो सकते है—एक तो उपनिषदो की नित्य आत्मा और दूसरे चार्वाक का उच्छेदवाद अर्थात आत्मा नाम की कोई वस्तु नही है। गौतम बुद्ध की स्थिति दोनो के मध्य मे है। वे एक ऐसी आत्मा का अस्तित्व मानते है जो शेष क्षणिक जगत की भांति क्षणिक, परिवर्तनशील और मुक्ति की दशा मे नश्वर है। ओल्डेन वर्ग के अनुसार, "बौद्ध उपदेशों से इसी ओर झुकाव मिलता है कि आत्मा नही है।"[१] अन्य दार्शनिको ने भी बौद्ध-मत को अनात्मवादी माना है। यदि यह सत्य है तो बौद्ध–दर्शन निश्चय ही भौतिकवादी है।

गौतम–बुद्ध के जीवन काल के बाद उनके अनुयायी पहले दो वर्गो मे बट गये और हीनयान तथा महायान के नाम से जाने गये। उसके बाद उनके भी दो-दो अवान्तर भेद हो गये। वैभाषिक और सौतान्त्रिक हीनयानी है और योगाचार तथा माध्यमिक महायानी है। इस विभाजन का कारण सत्ता परीक्षा है। ससार में दो प्रकार की सत्ताये है—बाह्य जगत्, जिसमे पृथ्वी जल आदि उपलब्ध है और दूसरे आन्तरिक जगत् जिसमे मन, बुद्धि या विचारो का प्रवाह है। प्रश्न यह है कि क्या ये दोनो सत्ताये स्वतन्त्र रूप से मान्य है, अथवा एक की सत्ता दूसरे पर आश्रित है अथवा दोनो मे से किसी का अस्तित्व नही है। इन विभिन्न सम्भावनाओ को लेकर बौद्ध-दर्शन मे प्रमुख चार सम्प्रदाय बन गये।

वैभाषिक मत के अनुसार ससार मे बाह्य और आन्तरिक सभी वस्तुयें विद्यमान है। इस मान्यता के कारण इसे सर्वास्तिवादी या सर्वास्तित्ववादी भी कहते है। जगत की सब वस्तुये या भाव धर्मो के परस्पर मेल से बने है। धर्म वे सूक्ष्म तत्व है जिनका विभाजन या पृथक्–करण नही किया जा सकता और जिनके सघात से नाना प्रकार की वस्तुये बनती है। इन धर्मो की सत्ता वैभाषिक सौतान्त्रिक और योगाचार मत मे एक समान मान्य है, केवल उनकी सख्या मे मतभेद है। माध्यमिक धर्म की सत्ता नही मानते।

बौद्धों के अनुसार समस्त धर्मों की उत्पत्ति हेतु (कारण) से होती है। तथागत बुद्ध उनके हेतुओ को जानते है। इसलिए उन्होने धर्मो के हेतु और

१- ओल्डेन वर्ग, बुद्ध, पृष्ठ २७३

निरोध का वर्णन किया है। धर्म दो प्रकार के होते है—सास्रव (मल सहित) और अनास्रव (मल रहित)। सास्रव धर्म को सस्कृत कहते है, क्योंकि वे सस्कार वाले है। ये हेतु तथा प्रत्यय से उत्पन्न होते है, इनमें राग और द्वेष मिश्रित होता है और ये अनित्य होते है। अभिधर्म कोश के अनुसार 'सस्कृत क्षणिक मत' अर्थात् सस्कृत धर्म क्षणिक होते है। सस्कृत अर्थ कृत या रचा हुआ है। अनास्रव धर्म हेतु-प्रत्यय से उत्पन्न नही होते इसलिए वे सस्कृत नही है और वे नष्ट भी नही होते है। ये नित्य और शुद्ध है। अनास्रव या असस्कृत धर्म तीन प्रकार के है—आकाश, प्रतिसख्या निरोध और सप्रतिसख्या निरोध। सस्कृत धर्म चार प्रकार के है—रूप ११ प्रकार के, चित्त १ प्रकार का, चैतसिक ४६ प्रकार के और चित्तविप्रयुक्त १४ प्रकार के। इस प्रकार कुल मिलाकर ७५ प्रकार के धर्म वैभाषिक मत ने माने है। प्रतिसख्या का अर्थ है प्रज्ञा। इसीलिए प्रज्ञा द्वारा होने वाले निरोध प्रतिसंख्या निरोध कहलाते है। पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और उनके विषय रूप है। ग्यारहवा रूप 'अविज्ञप्ति' नामक कर्म है जो कालान्तर मे फल देता है। चित्त मन या विज्ञान को कहते है। इससे सम्बन्ध रखने वाले धर्म या सस्कार चैतसिक या चैतस कहलाते है। चित्तविप्रयुक्त वे धर्म है जो न रूप है और न चित्त से सम्बन्ध रखते है, दोनो से पृथक् है।

वैभाषिक मत की इस स्थिति का उल्लेख करते हुए डेल रीपे इसकी तुलना प्रसिद्ध भौतिकवादी लुक्रेसियस से करते है और इसे एक उत्तम कोटि का भौतिकवाद निर्धारित करते है।[1] नाथूप की मान्यता है कि वसुबधु पहले सौतान्त्रिक मत का अनुयायी था और भौतिकवादी था। बाद में वह विज्ञान-वादी हो गया। डॉ० मित्तल इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इसका अर्थ यह है कि वैभाषिक मत निश्चय ही भौतिकवादी है।[2] इन विचारको का मत असगत या निराधार नही है।

जहाँ तक सौतान्त्रिक मत की स्थिति का प्रश्न है, उसकी मान्यताओ मे थोडा अन्तर भले ही हो किन्तु हीनयान के खेमे में वह भी भौतिकवादी ही है। इस मत के सस्थापक आचार्य कुमारलात और उनके शिष्य श्रीलात के अनुसार बाह्य जगत की सत्ता तो है किन्तु वह केवल अनुमान से सिद्ध है। इसलिए इस मत को बाह्यानुमेयवाद कहते है। बुद्ध के क्षणिकवाद का सिद्धान्त ध्यान मे रखकर यदि हम बाह्य जगत को देखे तो ज्ञात होगा कि हम अपनी इन्द्रियो से

1- Dale Riepe, N T I T Page 163

2- Dr. K K Mittal, MIT, Page 153

जिस संसार का ज्ञान प्राप्त करते हैं वह प्रतिक्षण बदल जाता है। जब तक हम ससार के विषय मे कुछ धारणा निश्चित करते हैं, तब तक वह स्वल बदल जाता है। उस बदले हुए ससार को हम जब तक जानते हैं वह पुन बदल जाता है। हमारा हर क्षण का ज्ञेय ससार अतीत में लीन हो जाता है। भविष्य के संसार को हम देखने में असमर्थ है।

इस प्रकार हम जो कुछ जानते है वह केवल हमारा विज्ञान ही है। हमारे विज्ञान या चित्त मे बाह्य वस्तु के जो चित्र बनते है उन्ही को हम जानते है। हमारे चित्त में जो चित्र बनता है उसका स्रोत बाह्य जगत मे अवश्य ही कुछ होना चाहिए। वह वस्तु हम अनुमान से ही जान सकते है। अनुमान के द्वारा ज्ञेय बाह्य संसार मिथ्या नही है। उसका अस्तित्व अवश्य है। अत सौत्रान्त्रिक भी बाह्य जगत की सत्ता उसी प्रकार यथार्थ मानते है जैसे वैभाषिक मानते है। अन्तर केवल इतना है कि वैभाषिक उसका ज्ञान प्रत्यक्ष से प्राप्त करना सम्भव मानते है और सौत्रान्त्रिक उसे अनुमान से ही जानते है।

यदि यह कहा जाय कि हमारे मानसिक विचार ही ऐसे प्रतीत होते है मानो वे कोई बाह्य पदार्थ है तो सौत्रान्तिक इसके उत्तर में कहते है कि यह मत तर्क पर ठहर नही सकता, क्योकि यदि बाह्य पदार्थों की सत्ता न होती तो इस प्रकार के मूल रूप न होने के कारण इस प्रकार की तुलना ही नही हो सकती थी। कोई व्यक्ति जो अपने होश मे हो ऐसा कभी न कहेगा कि वसुमित्र निःसन्तान मा के पुत्र की तरह दिखाई देता है। इसके अतिरिक्त यदि बाह्य ससार हमारी ही कल्पनाओ, इच्छाओं या विचारो का मूर्त रूप होता तो वह हमे सदा अनुकूल ही दिखाई देता किन्तु ऐसा नही है। इससे सिद्ध है कि बाह्य संसार है अवश्य, किन्तु हम उसे अनुमान से उसी प्रकार जानते है जैसे किसी व्यक्ति के बढते हुए शरीर को देखकर हम अनुमान करते है कि उसे पौष्टिक भोजन मिलता है अथवा किसी की मुखाकृति देखकर हम उसके मनोभाव का अनुमान लगा लेते है। डॉ० राधाकृष्णन सौतान्त्रिको को परिकल्पित द्वैतवादी मानते है।

सौतान्त्रिको का परमाणुवाद लगभग उसी प्रकार का है जैसा वैभाषिको का। ये आकाश को भी परमाणुरूप मानते है क्योकि दोनो भावमात्र हैं। उसका रूप या विस्तार नही है। चेतना स्वय अपने को प्रकाशित करती है और उसके प्रकाश मे अन्य वस्तुये भी प्रकाशित होती है जैसे दीपक स्वय जलता है और दूसरे को भी जलाता है इस कारण सौतान्त्रिक मत वस्तुवादी तो माना जा सकता है किन्तु उसका झुकाव प्रत्ययवाद की ओर स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

योगाचार सम्प्रदाय मे बाह्य जगत की सत्ता नहीं मानी गयी है। एक मात्र विज्ञान या चेतना की ही सत्ता है। इसलिए इसे विज्ञानवाद कहते हैं। माध्यमिक सम्प्रदाय में विज्ञान की सत्ता भी स्वीकार नहीं की गयी है । इसलिए इन दोनो से भौतिकवादी प्रवृत्ति खोजना दुष्कर है।

न्याय-दर्शन

ईसा से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व महर्षि गौतम ने न्याय-दर्शन प्रवर्तित किया। यह दर्शन मुख्य रूप से प्रमाणो का विवेचन करता है। 'न्याय' शब्द पारिभाषिक रूप मे पचावयवों के समूह का सूचक है। इसमे अनुमान आदि की प्रामाणिकता पर गभीर विचार किया गया है। किन्तु प्रमाण के अधार पर तत्त्व-दर्शन सम्बन्धी समस्याओ का भी निर्णय हुआ है । भौतिक जगत की प्रकृति, जीवात्मा, ईश्वर, मोक्ष आदि पर भी प्रकाश डाला गया है।

कणाद प्रणीत वैशेषिक दर्शन भी इससे बहुत कुछ साम्य रखता है। उनकी प्रतिपादन शैली मे थोडा अन्तर है। न्याय प्रमाण या तर्क पर अधिक-बल देता है तो वैशेषिक तत्त्व विचार पर । इस प्रकार ये दोनो दर्शन एक-दूसरे के पूरक है।

गौतम के न्याय-दर्शन के विकास की एक लम्बी परम्परा रही है। इसमे रुचि रखने वाले विद्वानो ने तर्कशास्त्र का विस्तार किया और एक नव्य-न्याय की परम्परा चल पड़ी। गगेश का ग्रन्थ तत्वचिन्तामणि युग-प्रवर्तक ग्रन्थ है।

न्याय-दर्शन के प्रथम सूत्र के अनुसार प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त सिद्धान्त, अवयव, तर्क निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह स्थान–ये १६ तत्त्व है जिनके ज्ञान से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इन तत्त्वो पर विचार करने से आत्मा, जगत् और ईश्वर का स्वरूप भी निश्चित हो जाता है। इनके विषय मे हमारी मिथ्या-धारण या अज्ञान निवृत्त हो जाता है।

इस दर्शन की मान्यता के अनुसार ज्ञान विषयों को उसी प्रकार प्रकाशित करता है जैसे दीपक का प्रकाश उसके निकट रखी वस्तुओ को प्रकाशित करता है। ज्ञान का आधार आत्मा है। अतः यह ज्ञान आत्माश्रयी है। ज्ञान तभी सत्य होता है और प्रमा कहलाना है जब वह विषय के अनुरूप हो। इसका अर्थ है ज्ञान मे आने वाली वस्तुये ज्ञान के अधीन नहीं वरन् अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं। ज्ञानका प्रामाण्य या अप्रामाण्य व्यवहार से सिद्ध होता है। दिखाई देने वाली वस्तु यदि हमारी प्यास बुझाती है तो उसके विषय मे हमारा पूर्व ज्ञान अब प्रमाणित हो गया हम मान सकते हैं कि यह जल ही है अत न्याय दर्शन अपनी ज्ञान

मीमासा से वस्तुवाद और व्यवहारवाद का सयुक्त रूप प्रस्तुत करता है।

वस्तुवाद के अनुसार ज्ञाता और ज्ञेय का आपस मे बाहरी संबन्ध है। ज्ञेय की सत्ता ज्ञाता पर निर्भर नही है। बाह्य जगत और उसकी वस्तुये स्वय अपनी सत्ता से विद्यमान है और उनकी रचना परमाणुओं से हुई है। इसलिए परमाणु और उनसे निर्मित वस्तुयें क्षणिक न होकर नित्य और चिरस्थायी है। पृथ्वी, जल, अग्नि, और वाय ये चार तत्व विभक्त हो सकते है, इसलिए ये परमाणुओं से निर्मित हैं। आकाश विभक्त नही हो सकता। वह उसी रूप में नित्य और विभु है। काल की भी सत्ता है, किन्तु वह परिवर्तनशील है।

इन भौतिक तत्त्वों के अतिरिक्त आत्मा और ईश्वर की भी सत्ता है ईश्वर जगत की रचना परमाणुओं के उपादान से करता है। आत्मा बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा जगत का ज्ञाता है। इसलिए न्याय–दर्शन द्वैतवादी है। वह आत्मा और जगत की सत्ता समान रूप से स्वतन्त्र मानता है।

न्याय-दर्शन मे जगत का वस्तुवादी रूप उसकी भौतिकवादी प्रवृत्ति सिद्ध करता है। साथ ही आत्मा का स्वरूप भी इस प्रवृत्ति से मुक्त नही है। इस दर्शन मे आत्मा एक ऐसा द्रव्य माना गया है जो स्वय चेतन स्वरूप नही है। चेतना उसका आकस्मिक गुण है। मन और शरीर के संयोग से उसमे चेतना का गुण उत्पन्न होता है। सुषुप्ति और मुक्ति की दशा मे आत्मा चैतन्य रहित होकर अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित रहता है। चैतन्य की सत्ता आत्मा से पृथक् और स्वतन्त्र नही है। चैतन्य एक गुण है और आत्मा उसका आश्रयभूत द्रव्य। गुण की सत्ता द्रव्य से अलग नही होती। आत्मा चैतन्य के बिना भी रह सकता है।

नैय्यायिकों के अनुसार चेतना न शरीर का धर्म है, न इन्द्रियों का, न मन बुद्धि का न प्राण का और न किसी पदार्थ का। यह आत्मा का ही गुण है, किन्तु वह आत्मा का स्वरूप लक्षण नही है। आत्मा और चैतन्य का समवाय सम्बन्ध है। यह मान्यता न्याय-दर्शन की विचित्रता है। आलोचना की दृष्टि से देखे तो यह स्थिति चार्वाक मत से अधिक अच्छी नही है। जैसे चार्वाक चेतना की उत्पत्ति चार भूतों के संयोग मे मानते हैं वैसे ही नैयायिक आत्मा और मन आदि के संयोग से चेतना की उत्पत्ति मानते है जबकि चेतना का न स्वतन्त्र अस्तित्व है और न आत्मा आदि किसी तत्त्व का नित्य स्वाभाविक धर्म है। श्री हर्ष आदि वेदान्तियों ने चेतनाहीन आत्मा की मान्यता का उपहास किया है। मुक्तावस्था मे नैय्यायिकों की शिलावत जड आत्मा मे और चार्वाक के विनष्ट आत्मा मे कोई विशेष अन्तर नही है। कारण मे कार्य की अविद्यमानता भी तर्कहीन है। अतः यह कहा जा सकता है कि न्याय–दर्शन में आत्मा की सत्ता मानने पर भी जडवाद

छुटकारा नही मिलता है।

फिर भी न्याय दर्शन को भौतिकवादी नही कह सकते, क्योंकि उसमें एक चेतन ईश्वर की सत्ता स्वीकार की गई है। न्यायसूत्र में ईश्वर का उल्लेख संक्षिप्त रूप मे मिलता है। बाद के नैयायिक वात्स्यायन, उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयन, गगेश आदि ने ईश्वर की सत्ता स्पष्ट रूप से स्वीकार नही की वरन् उसकी सत्ता सिद्ध करने के लिए प्रमाण भी जुटाये। ईश्वर-विषयक ये प्रमाण न्याय-दर्शन की अपनी विशिष्ट उपलब्धि है।

यहाँ ईश्वर को ज्ञान, सुख, इच्छा, प्रयत्न और धर्म से युक्त माना गया है। वह शक्तिमान है, सर्वज्ञ है और सर्वनियता है। वह जगत का निमित्त कारण और जीवों के शुभाशुभ कर्मों का फलदाता है।

वैशेषिक-दर्शन

कणाद प्रणीत वैशेषिक-दर्शन न्याय के समान ही है, किन्तु उसकी चिन्तन-धारा स्वतन्त्र है। दोनों की उत्पत्ति लगभग एक ही समय हुई थी। न्याय-दर्शन प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों को मानता है किन्तु वैशेषिक केवल पहले दो प्रमाण मानता है। उपमान और शब्द को अनुमान के अन्तर्गत ही मान लिया गया। न्याय १६ तत्त्वों की कल्पना करता है, किन्तु वैशेषिक केवल सात तत्व स्वीकार करता है। ये सात तत्व है-द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव।

द्रव्य इन सब मे प्रधान है। वह अन्य पदार्थों का आश्रय है। कार्य के समवायी कारण और गुण तथा कर्म के आश्रयभूत पदार्थ को द्रव्य कहते हैं। प्रत्येक द्रव्य को इन सब का एक साथ आश्रय आवश्यक नही है। आकाश द्रव्य क्रिया का आश्रय नही है, घट आदि द्रव्य उत्पन्न होकर एक क्षण बिना गुण के स्थिर रहते हैं और आत्मा में समवायी कारण आश्रित नही है। अत. जो द्रव्यत्व जाति वाला हो उसको द्रव्य कहते है। यही द्रव्य का लक्षण है।

द्रव्य एक वस्तु (रियल) है। इसमे अस्तित्व, अविधेयत्व और ज्ञेयत्व के लक्षण है।[1] गुण और कर्म का आश्रय होना उसका नित्य लक्षण नहीं है।[2] फिर गुण-कर्म के बिना द्रव्य शून्यमात्र रह जाता है अथवा वह केवल अनुमान का विषय होगा। कणाद उसे यौगिक अन्तर्दृष्टि के द्वारा ग्राह्य मानते हैं। सामान्य विशेष और समवाय का ज्ञान हमारी बुद्धि से होता है।[3]

द्रव्य का अपना स्वरूप न अध्यात्मवादियों की मान्यता के समान चेतन

१- प्रशस्तपाद, पदार्थ धर्म सग्रह, पृष्ठ १६ (भारतीय दर्शन में उद्धृत)
२- वैशेषिक सूत्र, ६ : १, १४
३- वही १ · २ ३

है और न प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त मानने वाले बौद्धों के समान एक दूसरे की सत्ता पर निर्भर रहने वाला सापेक्ष तत्व है। द्रव्य अपनी सत्ता से उसी प्रकार अस्तित्ववान है जैसा हमारे समक्ष उपस्थित है। वह एक वर्तमान वास्तविकता है और स्वय अपनी सत्ता से विद्यमान है।

द्रव्य गुणों से युक्त होकर देश और काल की अपेक्षा से वस्तु कहलाता है। द्रव्य और गुण दो पृथक तत्व मानना एक तर्कीय आवश्यकता है। यदि गुण द्रव्य के साथ उत्पन्न हो और सदा उसके साथ रहे तो दोनो मे भेद ही नही किया जा सकता। इसलिए जिस क्षण द्रव्य उत्पन्न होते है वे गुणो से रहित होते है। गुणो से उनका सम्बन्ध दूसरे क्षण होता है। यह अनुभव से भी सिद्ध है। हम द्रव्य का कोई गुण तो मानते हैं, किन्तु गुण का गुण या गुण का द्रव्य नही मानते। तात्पर्य यह है कि द्रव्य की परिभाषा गुणो के आश्रय के रूप मे ही की जा सकती है।

द्रव्य दो प्रकार के हो सकते है—नित्य और अनित्य। परमाणु नित्य द्रव्य है और उनसे निर्मित पृथ्वी आदि द्रव्य अनित्य हैं। परमाणु निरवय है, इसलिए नित्य है, किन्तु जो वस्तु अवयवी और परमाणु अथवा किसी अन्य वस्तुओ के सयोग से उत्पन्न हुई है वह कभी नष्ट भी होगी उसके परमाणु पृथक् हो जायेगे। निरवयी द्रव्य नित्य स्वतन्त्र, निरपेक्ष और अविनाशी होता है। उसकी उत्पत्ति भी नही होती है। अवयवी द्रव्यो का कारण अपने से भिन्न कुछ और होता है।

द्रव्य सख्या मे कुल नौ है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, देश, आत्मा और मन। समस्त चर–अचर सृष्टि इन्ही द्रव्यो का समुदाय है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के मूल रूप उनके परमाणु है। वे प्रत्यक्ष के विषय नही है। वायु परमाणुओ का सघात होकर भी आंखो से नही देखा जा सकता। आकाश, काल, देश, आत्मा और मन भी प्रत्यक्ष नही जाने जाते।[1]

द्रव्यो को मूर्त और भूत दो प्रकार का भी माना जाता है। मूर्त द्रव्य परिच्छिन्न और परिमाण वाले होते है। उनमे क्रिया और गति होती है जैसे पृथ्वी, जल आदि। आकाश ऐसा नही है। वह अमूर्त है। इसलिए उसमे क्रिया या गति संभव नही है। भूत द्रव्य से भौतिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। मन परमाणुओं से बना माना जाता है किन्तु उससे किसी वस्तु की उत्पत्ति नही होती। आकाश परमाणुओ से निर्मित नही है फिर भी भौतिक है और उससे शब्द की उत्पत्ति होती है।

नौ मे से तीन द्रव्य आकाश, काल और देश सर्व व्यापक है। उनका

---

१ वैशेषिक सूत्र ८ १ २

सम्बन्ध सभी परिच्छिन्न और मूर्त वस्तुओ से है।

आत्मा भी एक द्रव्य है। इसका ज्ञान इन्द्रियो से नही होता। आगम और और अनुमान के द्वारा ही इसे जाना जाता है[1] अनुमान के द्वारा हम विचार करते है कि हमारी चेतना का कारण हमारा शरीर, हमारी इन्द्रियाँ या हमारा मन नही हो सकता। फिर हमारी चेतना का कारण क्या है? हम सुख-दु.ख,राग द्वेष, सकल्प-विकल्प का अनुभव करते है। हम श्वास लेते और निकालते हैं, पलकें खोलते बन्द करते है और हमारे मन तथा इन्द्रियो के द्वारा कार्य होते है। हमारे शरीर के घाव स्वत भरते है। वैशेषिक मत मे इन सबका कारण आत्मा ही माना जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा एक चेतन द्रव्य है और उसी चेतना से य सब ज्ञान और क्रियायें सम्पन्न होती है। किन्तु ऐसा नही है। न्याय-दर्शन के समान वैशेषिक-दर्शन ने भी आत्मा को अपनी मूल अवस्था मे चेतन नही माना गया है। प्रलय काल या मुक्तावस्था मे, जब आत्मा का सम्बन्ध शरीर और मन से नही होता तो उसे वस्तुओ का बोध नही होता। 'अशरीरिणामात्मनां न विषयावबोध' अर्थात् अशरीरी आत्माओ को विषय का बोध नही होता।[2] चेतना मानो एक गुण है जिसका आश्रय आत्म-द्रव्य है। इसलिए चेतना आत्मा का नित्य और अनिवार्य लक्षण नहीं है। आत्मा को सुख-दुख या बाह्य वस्तुओं का ज्ञान मन, इन्द्रियो और शरीर के द्वारा ही होती है। यद्यपि आत्मा सर्वव्यापक है किन्तु मन आदि की परिच्छिन्नता के कारण उसे सीमित ज्ञान ही होता है।

आत्मा मे चेतना की यह स्थिति देखते हुए यह कहना कठिन है कि वैशेषिक दशन भौतिकवादी है अथवा नही? डॉ० राधाकृष्णन्[3] जैसे अध्यात्मवादी यह कहते है कि वैशेषिक भौतिकवाद नही है, यद्यपि यह एक यथार्थवादी तन्त्र है, क्योंकि यह अभौतिक द्रव्यों, यथा आत्मा को स्वीकार करता है और ठोस मूर्तरूप भौतिक द्रव्यों को नही बल्कि उनके अति सूक्ष्म रूप को यथार्थ मानता है। इसके विपरीत एम० एन० राय जैसे भौतिकवादी वैशेषिक दर्शन को उसमें प्रतिपादित आत्मा के आधार पर ही उसे 'शुद्ध भौतिकवाद' मानते हैं।[4] उनके मतानुसार कणाद-तन्त्र मे अतिभौतिकवाद या अध्यात्मवाद

१- वैशेषिक सूत्र ३ : २, ८, १९

२- न्यायकन्दली पृ० ५७

३- डॉ० राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन भाग २, पृ० १८८

4- M. N. Roy, Materialism, Page. 133 His hypothesis was purely mater a stic

के लिए कोई स्थान नही है। आत्मा और चेतना मे नित्य सम्बन्ध नही है। जब आत्मा का सम्बन्ध मन से होता है तो परमाणुओ के आकस्मिक गुण से चेतना उत्पन्न होती है।

यद्यपि कणाद ने भौतिक द्रव्यो से पृथक् आत्मा का एक स्वतन्त्र द्रव्य स्वीकार किया है, जो चार्वाक मत से कुछ अलग हटकर है, किन्तु जैसे चार्वाक चार भूतो के सयोग से चेतना की उत्पत्ति मानते है वैसे ही कणाद आत्मा और मन आदि के सयोग से चेतना की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार किसी नित्य चेतन तत्व की मान्यता अनावश्यक है। इससे यह निष्कर्ष निकालना कठिन नही है कि आत्मा की सत्ता स्वीकार कर लेने पर भी वैशेपिक मत भौतिकवाद से बच नही जाता है।

इसके अतिरिक्त उनकी आत्मा के विषय मे जो धारणायें हैं वे भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि करती है। वे अनेक आत्माओं की सत्ता स्वीकार करते है। आत्मा की अनेकता सिद्ध करने वाले उनके तर्क लगभग उसी प्रकार के है जैसे साख्य मत के हैं। 'व्यवस्थातो नाना'[1] अर्थात् सभी आत्माओ की अवस्था नाना-विधि है। कोई बन्धन मे है, कोई मुक्त है, कोई सुखी है। यदि आत्मा एक हो तो सब का अनुभव एक समान होना चाहिए। वेदान्त दर्शन मे बद्ध जीवों की अनेकता उनकी उपाधि भिन्नता के कारण माना गया है और मुक्तावस्था मे उन्हें ब्रह्म के साथ एकत्व प्राप्त समझा गया है। किन्तु इस प्रकार का भेद वैशेपिक मत मे नही है फिर कणाद आत्मा की बृद्धावस्था मे उसे मन के साथ सयुक्त मानते है और एक शरीर छोडकर दूसरे शरीर मे जाते समय तथा नया शरीर प्राप्त करते समय उसका मन उसके साथ उसी प्रकार जाता है जैसे वेदान्त मत मे जीव के साथ उसका सूक्ष्म शरीर और वासनायें जाती है। वैशेषिक मत 'विशेप' नाम का एक तत्व स्वीकार करता है, जिसके द्वारा एक आत्मा दूसरे से पृथक रह सकता है।

यह कहना कठिन है कि मुक्तावस्था मे आत्माओ की पृथकता कैसे बनी रहती है जब वे सब व्यापक और एक रूप है। उस अवस्था में विशेष तत्व उनके साथ कैसे रह सकता है ? डॉ० दासगुप्त ने कल्पना की है कि वैशेषिक मत मे आत्मा एक है यद्यपि अनेक प्रतिबंधो के विचार से और श्रुतियों में दिए गये आदेशो के पालन करने की आवश्यकता के लिए उन्हे अनेक मान लिया गया है।[2] किन्तु डॉ० राधाकृष्णन् इस सुझाव को

1- वैशेषिक सूत्र ३ : २, २०

2 History of Indian Philosophy P 290

स्वीकार करना कठिन मानते है।

आकाश सब मूर्त वस्तुओ और घटनाओ को अवकाश देता है और रिक्त है किन्तु वह भी एक द्रव्य है। वह शब्द गुण का आश्रय है। यह अन्वय-व्यतिरेक विधि से जाना जाता है। स्पर्श, रूप, रस और गंध उससे सम्बन्ध नही रखते। सर्व व्यापक होने के कारण यह निष्क्रिय है। उसमे गति नही होती। परमाणु नित्य हैं, अत उनके स्थित रहने के लिए आकाश भी नित्य है। प्रलय काल मे आकाश नष्ट नही होता। वह परमाणुओ के सयुक्त होकर पदार्थ बनने मे भी सहायक होता है। आकाश शब्द का विशेष कारण और देश सब कार्यों का सामान्य कारण है। इसलिए आकाश और देश में भेद किया गया है। पूर्व–पश्चिम आदि दिशाओ तथा दूर - समीप आदि स्थानो का कारण देश ही है।

काल वस्तुओ की उत्पत्ति, स्थिति और नाश का हेतु है। अनित्य पदार्थों मे परिवर्तन उसी के कारण होता है। वस्तुओ की गति भी काल के ही अन्दर होती है। काल समस्त विश्व में व्याप्त है और एक स्वतन्त्र सत्ता है। क्षण, दिन माह, वर्ष आदि काल के ही मूर्त रूप है। मूल रूप मे काल एक है और नित्य द्रव्य है।

वैशेषिक-दर्शन मे परमाणुवाद की प्रकल्पना सशक्त रूप मे आई है। कणाद से पूर्व आजीविक आदि का ध्यान इस ओर गया था और उपनिषदो मे भी इसके सकेत मिलते है, किन्तु वैशेषिक-दर्शन मे इस मत का पर्याप्त विकास हुआ है। इसके अनुसार जो पदार्थ विखण्डित होकर हिस्सों मे बट सकते है, वे परमाणुओं से निर्मित कहे जाते है। परमाणु पुनः विभक्त नही हो सकते, इसलिए वे अविनाशी है, किन्तु उनसे बने पदार्थ अनित्य है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु रूपो मे नित्य है किन्तु मूत रूप मे वे अनित्य है। आकाश परमाणुओं से निर्मित नही है, इसलिए वह नित्य है। परमाणुओ से मिलकर जब वस्तु बनती है तो वे समवाय सम्बन्ध से जुड़ते हैं और सयोग उनमे सहकारी होता है। यद्यपि पर-माणु इन्द्रियातीत है किन्तु उनका वर्गीकरण चार श्रेणियो मे हो सकता है। उनमे स्पर्श, रूप, रस और गध का भेद है। उन्ही से नेत्र, स्पर्श, स्वाद और नासिका की उत्पत्ति होती है। यही कारण है कि प्रत्येक इन्द्रिय एक विशेष गुण को ही ग्रहण करती है। गध युक्त परमाणुओं से नासिका इन्द्रिय की और पृथ्वी तत्व की उत्पत्ति होने के कारण नासिका पृथ्वी की गध ग्रहण कर लेती है। यही विधान सब इन्द्रियो के साथ है।

परमाणु का एक परिमण्डल होता है। अन्य परमाणुओ से संयुक्त होने पर वह छः ओर से घिर जाता है। इसलिए उसके छः पार्श्व समझे जाते है,

किन्तु यह प्रकल्पना मात्र है यथार्थ नहीं । परमाणुओं मे अन्दर बाहर का भेद नहीं है और वे देशरहित हैं । प्रलय काल मे वे गतिहीन अवस्था में रहते है । उनमे बाह्य आघात से गति उत्पन्न होती है । उनको गति देने वाला एक विशिष्ट धर्म है, 'धर्म विशेषात्'[1] और वह धर्म है 'अदृष्ट' ।

वैशेषिक दर्शन की यह एक बडी समस्या है कि उनके द्वारा कल्पित अदृष्ट परमाणुओं मे गति कैसे उत्पन्न करता है और वह कहाँ रहता है । प्रलय-काल मे आत्मायें अचेतन होने के कारण वे स्वयं या अदृष्ट के द्वारा गति उत्पन्न नही कर सकती । यदि अदृष्ट परमाणुओं मे रह कर अपने स्वभाव मे गति उत्पन्न करे तो वह गति नित्य होगी और प्रलय की अवस्था न आ सकेगी । यदि अदृष्ट अपनी सत्ता रखता हो तो उसे इतना विवेक रखने के लिए चेतन भी होना चाहिए कि कब सृष्टि करनी है और कब प्रलय । यदि वह चेतन हो तो ईश्वर के अतिरिक्त कुछ न होगा और यदि चेतन नहीं है तो उसे प्रेरित करने के लिए उससे पृथक् एक ईश्वर की आवश्यकता होगी । यदि ईश्वर की ही सत्ता माननी पडनी है तो अदृष्ट की कोई आवश्यकता नहीं ।

डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार, "कणाद–सूत्रों मे प्रकट रूप मे ईश्वर का उल्लेख नहीं है । परमाणुओं और आत्माओं मे प्रारम्भिक गति अदृष्ट के कारण होती है । कणाद भले ही विश्व की व्याख्या अदृष्ट तत्व के द्वारा करके सन्तुष्ट हो गये हों, पर उनके अनुयायी अनुभव करने लगे कि अदृष्ट तत्व अत्यन्त अस्पष्ट तथा धर्मविहीन है ।"[2] वेदान्त–सूत्र की व्याख्या करते हुए शंकराचार्य ने वैशेषिक–दर्शन मे ईश्वर का कोई स्थान नहीं माना है । उसमें परमाणुओं और आत्मा को नित्य और अनादि सत्ता स्वीकार कर उनकी नानाविध अवस्थाओं की व्याख्या अदृष्ट के द्वारा ही मानी है ।

इस अदृष्ट को यदि अचेतन तत्व माने तो वैशेषिक–दर्शन शतप्रतिशत भौतिकवादी है । किन्तु जिस दर्शन मे दो तत्वों के संयोग से उत्पन्न होने वाली चेतना स्वीकार की जाती है, वह तर्क की दृष्टि से कितना ही दुर्बल हो फिर भी अदृष्ट में चेतना का तत्व स्वीकार किया जा सकता है । उसे जड तत्व मानकर उसका प्रेरक कोई चेतन ईश्वर खोजने की आवश्यकता नहीं है । प्राणियों के कर्मों मे उत्पन्न होने वाला अदृष्ट अपने सूक्ष्म रूप मे अपने साथ प्राणियों की चेतना का कुछ अंश भी ला सकता है । चेतना की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करने

१- वैशेषिक सूत्र, ४ : २, ७

२- भारतीय दर्शन भाग २, पृ० २२४, २२५

वाले अध्यात्मवादी दार्शनिक इस अदृष्ट की कल्पना में अनेक दोष देख सकते हैं किन्तु वैशेषिक दर्शन रहस्यवादी प्रकल्पनाओं से अपनी रक्षा करता हुआ भौतिकवाद और वस्तुवाद के स्तर पर जीवन और जगत की व्याख्या पर्याप्त सफलता के साथ करता है।

सांख्य-योग दर्शन

सांख्य-दर्शन में भौतिकवादी प्रवृत्ति खोजते समय हम उसके साथ योग-दर्शन भी सम्मिलित कर सकते हैं क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि ये दोनो दर्शन एक दूसरे के पूरक है। सांख्य जीवन के सिद्धान्त प्रतिपादित करता है और योग उन सिद्धान्तो को जीवन मे उतारने के लिए उनका व्यावहारिक पक्ष निर्धारित करता है। सम्भव है कपिल का साख्य-दर्शन पहले प्रकट होकर प्रसिद्ध हो गया हो और पतंजलि ने उसे स्वीकार कर मुक्ति-साधना की पद्धति बाद मे विकसित की हो। फिर भी दोनों दर्शनो की मान्यताओ मे एक मुख्य अन्तर अवश्य है। साख्य अनीश्वरवादी है और योग ईश्वर की सत्ता यत्किंचित स्वीकार कर लेता है। पतंजलि का ईश्वर केवल एक पुरुष विशेष है जिसके साथ बंधन-मुक्ति का प्रश्न नहीं है और जो योगसाधना करने वाले अपने भक्तों की सहायता करता है। वह न जगत की रचना मे सहायक होता है और न जीवो के शुभाशुभ कर्मो का फल देता है।

भारत मे वेदान्त के बाद साख्य दर्शन को ही सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है। शंकराचार्य ने इसको अपना विरोधी प्रधान मल्ल माना है।[1] उसके तर्कीय, दोषों से अपने को बचाकर वे अद्वैत वेदान्त को अजेय मान लेते हैं। इसमे सन्देह नही कि पश्चिमी दार्शनिक बर्नार्ड, मेक्डोनल, शेरबात्स्की आदि ने उसके तर्कीय और वैज्ञानिक आधार की प्रशंसा की है।

साख्य-दर्शन द्वैतवादी है। प्रकृति और पुरुष दो स्वतन्त्र तत्व है। यह एक ओर शुद्ध भौतिकवाद का विरोध कर चेतना की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करता है और दूसरी ओर अध्यात्मवादी दृष्टि का खण्डन कर प्रकृति को चेतना से उत्पन्न न मानकर उसकी स्वतन्त्र, अनादि सत्ता प्रतिपादित करता है। कुछ विद्वान साख्य की प्रकृति में चेतना के तत्व देखने का प्रयास करते है। वे प्रधान से उत्पन्न बुद्धि, अहंकार और मन देखकर मान लेते है कि प्रकृति पूर्णरूपेण जड नही है। अन्य विद्वान प्रकृति मे ही पंचभूतों की उत्पत्ति पाकर और कपिल द्वारा उसे चेतन पुरुष का प्रतिद्वन्द्वी तत्व जानकर यह धारणा बना लेते है कि साख्य एक भौतिक-वादी दर्शन है। उनके विचार मे पुरुष तत्व की मान्यता ही निरर्थक है।

---

१ ब्रह्मसूत्र शा० भा० २ १ १०

इस प्रकार की विरोधी धारणायें बनने का कारण यह है कि सांख्य-दर्शन देकार्त के द्वैतवाद से अधिक साम्य नहीं रखता है। देकार्त के द्वैत में 'माइण्ड' और 'मैटर' दो तत्व हैं। वहाँ माइण्ड (मन) चेतन तत्व है किन्तु सांख्य दर्शन में मन प्रकृति की ही उत्पत्ति है। माइण्ड और मैटर दोनों प्रकृति हैं। पुरुष प्रकृति का ज्ञाता होने के कारण मन–बुद्धि का भी ज्ञाता है।

सांख्य–दर्शन में तत्व–चिन्तन प्रक्रिया परमाणुवादियों के मत से भिन्न है। वहाँ मन, बुद्धि, अहंकार आदि सूक्ष्म तत्वों की उत्पत्ति भौतिक परमाणुओं से होना सम्भव नहीं है, इसलिए उनको अलग तत्व माना गया। सांख्य-दर्शन में जड और चेतन दो तत्वों का मौलिक विभाजन कर समस्त जड सृष्टि की उत्पत्ति तीन गुणों से स्वीकार कर ली गयी। ये गुण–सत्व, रजस् और तमस् तीन हैं। ये परमाणु रूप नहीं हैं। सृष्टि में तीनों गुणों के लक्षण दिखाई देते हैं किन्तु इन गुणों को अपने मूल रूप में नहीं देखा जा सकता है।

सत्व गुण ज्ञान और सुख को उत्पन्न करता है। मन, बुद्धि और इन्द्रियों की प्रकाशक शक्ति सत्व के कारण है रजोगुण क्रिया और परिवर्तन की शक्ति है इन्द्रियों में क्रिया और मन में चंचलता उसी के कारण दिखाई देती है। तमोगुण जडता का कारण है। वह सत्व और रजस् दोनों का बाधक है। आलस्य, निद्रा और अज्ञान इसी के कारण हैं। पृथ्वी आदि जड तत्वों की उत्पत्ति इसी की प्रधानता से होती है।

ये गुण समस्त सृष्टि के कारण हैं, किन्तु इनका कारण कुछ अन्य नहीं है। प्रलयकाल में ये तीनों पृथक् और साम्यावस्था में रहते हैं। उस समय उनको प्रधान कहते हैं। तीनों गुणों के सम्मिश्रण से सृष्टि बनने लगती है। किन्तु तमस् उनमें गति उत्पन्न नहीं होने देता। पूर्व-पूर्व जन्मों के कर्मफल से जो अदृष्ट उत्पन्न होता है वह जीवों के साथ रहता है। उसके परिपाक होने पर वह जीवों को सुख-दुःख भोगने के लिए सृष्टि उत्पन्न होने के कारण बनता है। उसके प्रभाव से तमस दुर्बल होता है और वहा विद्यमान रजस सक्रिय हो जाता है। वह सत्व को संचालित करता है जिससे महत् की उत्पत्ति होती है। यही समष्टि बुद्धि तत्व है। इसमें सत्व की प्रधानता है किन्तु विचारों की गति रजस के कारण और उसकी परिच्छिन्नता तमस के कारण है।

बुद्धि तत्व में विद्यमान रजस उसमें अहंकार की उत्पत्ति करता है, किन्तु अहंकार रजो प्रधान होकर भी सत्व और तमस समन्वित है। अहंकार से ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मनस् और शब्दादि तन्मात्राये उत्पन्न होती हैं। रजस और तमस् के अनुपात में इनका भेद होता है। तन्मात्राओं में तमस का अंश प्रधान है इनसे पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। ये स्थूलतम पदार्थ

हैं। इस प्रकार सांख्य ने कुल चौबीस, तत्व माने है। इनकेअनिरिक्त पुरुष पच्चीसवाँ तत्त्व है।

जगत की सभी वस्तुयें त्रिगुणात्मक, प्राकृत और अचेतन है, किन्तु पुरुष (आत्मा) उसके विपरीत चेतन, अप्राकृत और त्रिगुणातीत है। चेतना इसका स्वाभाविक धर्म है। न्याय–वैशेषिक मे चेतना को आत्मा का गुण मानकर उसे भौतिकता की परिधि में घसीट लिया है। सांख्य ने ऐसा नही किया। इसलिए पुरुष की स्थिति देखकर हम उसे शुद्ध भौतिकवादी दर्शन नही कह सकते। जैन-दर्शन में जीव चेतनस्वरूप माना गया है, किन्तु उसमे भौतिकता का कुछ ऐसा लक्षण है जिससे कर्म-पुद्गल उसमे प्रवेश कर जाता है और वह उसका बधन अनुभव करता है। सांख्य मे प्रकृति और पुरुष का कोई वास्तविक सम्बन्ध नही हो सकता। फिर भी पुरुष प्रकृति के सम्पर्क में आता है और उसके बधन में पड़ता है, इसका कारण अज्ञान है। अज्ञान के कारण पुरुष प्रकृति का बन्धन अनुभव करता है, किन्तु उसमें कोई वास्तविकता नही है। पुरुष को अपने असंग चेतन स्वरूप का ज्ञान होने पर वह बन्धन नही रह जाता। उसे किसी तप या साधन के द्वारा अपना कर्म–सम्बन्ध छोडने का प्रयास नहीं करना पडता वरन् ज्ञान के द्वारा उसे जानना होता है कि उसे कोई बन्धन नहीं है। इससे यह ज्ञात होता है कि सांख्य दर्शन में हम प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता देखकर हम उसमे भौतिकवादी प्रवृत्ति भले ही मानें किन्तु पुरुष रूपी चेतन तत्त्व की स्वतन्त्र सत्ता प्रकृति से असंगता और अपने आप मे अमूर्तता देखकर हम उसें भौतिकवादी कदापि नही मान सकते। यही स्थिति योग-दर्शन की भी है। श्री के० के० मित्तल ने यह सच्चाई के साथ स्वीकार किया है कि साख्य-योग दर्शन न शुद्ध भौतिकवादी हैं और न वह किसी विशेष प्रकार का आदर्शवाद है, किन्तु वह प्रकृति और पुरुष का द्वैतवाद है और इसमें प्रकृति का स्थान प्रधान है।[1] डॉ० राधाकृष्णन लिखते है, "जैकोबी का यह विचार कि साख्य एक पूर्ववर्ती भौतिवादी सम्प्रदाय का ही परिष्कृत रूप है, प्रमाणित नहीं होना। परमार्थ सत्ता तथा आत्मा के स्वातन्त्र्य पर आग्रह रहने के कारण, साख्य ने मानसिक प्रतीति–सम्बन्धी समस्त भौतिकवादी विचारको के विरुद्ध प्रचार को अपना लक्ष्य बनाया। सांख्य के विकास में हमें कोई भी अवस्था ऐसी प्रतीत नहीं होती कि जहा पर इसका भौतिकवाद

1- "We maintain that the Sankhya-yoga is nerther materlalism pur and simple (or even complex) nor is it an idealism of any sor, but a ganuine dualism of matter (prakriti) and spirit (Purusha) in which the former (matter) plays a dominant role." Mittal M T P 206

के साथ साम्य प्रदर्शित किया जा सके।''[1] इस प्रकार वे जैकोबी के अतिवादी पक्ष का विरोध करते हुए दूसरे अतिवादी पक्ष पर पहुँच जाते हैं और उन्हें सांख्य दर्शन में भौतिकवादी प्रवृत्ति कोई भी नहीं दिखाई देती। वे सांख्य द्वारा किए गए अनुभव के विश्लेषण से उसमें एक अधिक उपयुक्त दर्शन (सम्भवत: वेदान्त) की भूमिका देखने लगते हैं।[2]

मीमांसा-दर्शन

मीमांसा-दर्शन पूर्व-मीमांसा भी कहलाता है, क्योंकि उपनिषदों को छोड़कर वेदों का पूर्व भाग ही इसका विचारणीय और प्रामाणिक आधार है। वेदों के इस भाग मे जगत का और इसमे अपने कर्मानुसार भ्रमण करने वाले जीव की स्थिति का विचार किया गया है। जैमिनि ने इसकी व्याख्या करते हुये सूत्र लिखे हैं जिन्हे जैमिनि-सूत्र या धर्म-सूत्र कहते है। इन पर शबर भाष्य और भाष्य पर प्रभाकर तथा कुमारिल भट्ट की टीकाये प्रसिद्ध है।

धर्म का सम्बन्ध कर्मों के विधि-निषेध से है और कर्म का सम्बन्ध लौकिक जगत से है जिसके अन्तर्गत मृत्युलोक तथा स्वर्ग-नरक आते है। जीव अपने कर्मानुसार इन लोकों में जन्मता मरता भ्रमण किया करता है। स्वर्ग का सुख पाना उसका सर्वोच्च लक्ष्य है इसी तथ्य को ध्यान मे रखकर जीव जगत और कर्म का दार्शनिक रूप इस दर्शन मे निश्चित किया गया है। इन तत्वो की व्याख्या भौतिकवादी दृष्टिकोण से हो जाती है, इसलिए मीमांसा वैदिक-दर्शन होते हुए भी ईश्वर की उपेक्षा करता है और जीवात्मा के चित्स्वरूप होने की आवश्यकता अनुभव नही करता।

कुमारिल ने लिखा है कि मीमांसाशास्त्र उनके समय में नास्तिकों के हाथ मे चला गया था। उसका उद्धार करने के लिए उन्होने प्रयास किया।[3] इससे सूचित होता है कि मीमांसा-दर्शन मे ऐसे भौतिकवादी तत्व बहुत हैं जिनके कारण उसे लोकायत-मत का प्रतिपादक माना जा सकता है।

मीमांसा-दर्शन में जगत और उसके पदार्थों के वास्तविक भौतिक वस्तु उसी प्रकार माना गया है जैसे वैशेषिक दर्शन मे। प्रभाकर द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, संख्या, शक्ति तथा सादृश्य को पदार्थ मानते हैं। इनमें शक्ति, संख्या और सादृश्य इनकी अपनी उद्भावना है। सभी वस्तुओं में अपनी एक

१- भारतीय दर्शन भाग २, पृष्ठ २४६

२- भारतीय दर्शन भाग २, पृष्ठ ३२६

३- प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया॥ श्लोकवार्तिक १०

शक्ति होती है, जैसे अग्नि मे दाहकता शक्ति। इस शक्ति के रहने पर ही वस्तु अपना कार्य करती है। इसी प्रकार संख्या और सादृश्य भी पदार्थ है।

द्रव्य नौ है—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश या पाच महाभूत द्रव्य है। इनके अतिरिक्त देश, काल तथा मनस् आत्माये चार द्रव्य माने गये है। कुमारिल ने पदार्थ, द्रव्य, गुण आदि की सख्या मे कुछ वृद्धि की है किन्तु उनसे जगत के स्वरूप मे कोई अन्तर नही आता है।

जैमिनि और शबर न ईश्वर की सत्ता मानते है और उसके द्वारा जगत की रचना स्वीकार करते है। कुमारिल के विचार मे जगत नित्य है। इसलिए उसके बनाने बिगाडने के लिए ईश्वर की सत्ता का प्रश्न ही नही उठता। वे यह भी कहते है कि सर्वज्ञ कोई हो ही नही सकता है। उनके मत से मीमासा-दर्शन को ईश्वर से कोई सरोकार नही है। उसका विचार करना हो तो वेदान्त-दर्शन देखना चाहिए।

शरीर, इन्द्रिय और मन से भिन्न आत्मा की सत्ता है। वह भी एक द्रव्य है। शरीर के नष्ट होने पर वह नष्ट नही होता। वह नित्य है। वह आत्मा ही स्वर्ग आदि लोको में गमन करता है। वह विभु होते हुए भी जिस शरीर मन बुद्धि से सम्पर्क रखता है उसी का ज्ञान उसे होता है, अन्य व्यक्तियो का ज्ञान उसे प्राप्त नही होता। आत्माये अनेक है। उनमें बद्ध और मुक्त होने का भी भेद है। इसके अतिरिक्त महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि आत्मा स्वय प्रकाश स्वरूप नही है। मन आदि के साथ रहने पर ही उसमे ज्ञान उत्पन्न होता है।

प्रपञ्चो से छुटकारा होने पर आत्मा मुक्त हो जाता है। शरीर, इन्द्रियाँ और विषय प्रपञ्च है। मोक्षावस्था मे आत्मा मे न सुख है, न आनन्द और न ज्ञान। मन आदि के सम्बन्ध से ही ज्ञान होता है। मुक्त होने पर आत्मा मन से पृथक् हो जाता है। इसलिए उस समय आत्मज्ञान नही रहता। ज्ञानशक्ति मात्र ही आत्मा मे रहती है। ज्ञान-शक्ति का लोप आत्मा से कभी नहीं होता। उसकी सत्ता और द्रव्यत्व तो उसके साथ रहते ही है।[२]

इसी स्थिति को देखते हुए डॉ० मित्तल ठीक ही कहते हैं, "यह ईश्वर की सत्ता न मानने के कारण किसी प्रकार के अध्यात्मवाद की अपेक्षा भौतिकवाद के अधिक निकट है। इसमे भौतिक जगत की सत्ता स्वीकार की गयी है और उसके तत्वों मे आध्यात्मिकता का लेश भी नही माना है।" किन्तु वे यह भी स्वीकार

१- श्लोकवार्तिक, आत्मवाद, १४८

२- यदस्य स्व नैज रूपं ज्ञानशक्तिसत्ताद्रव्यत्वादि तस्मिन्नवतिष्ठते। शास्त्रदीपिका, पृष्ठ १३०

करते है कि मीमांसा स्पष्ट रूप से न भौतिकवाद का समर्थन करता है और न अध्यात्मवाद या आदर्शवाद का ।[१]

ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से हम देखते है कि यह दर्शन इन्द्रियानुभववाद पर जितना बल देता है, चार्वाक को छोड़कर शायद ही कोई अन्य भारतीय दर्शन उतना बल देता हो ।

वेदान्त-दर्शन

वेदान्त-दर्शन मे भौतिकवादी प्रवृत्ति बिल्कुल नही है या बहुत कम है । इसकी व्याख्या विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न रूप में की है । इसमे अनेक सम्प्रदाय खड़े हो गये है । यही लक्षण इस बात की सूचना देने के लिये पर्याप्त है कि इसके किसी सम्प्रदाय मे भौतिकवादी प्रवृत्ति अवश्य बनी रही है । इसलिए इस दर्शन की परीक्षा कर उसमे भौतिकवादी प्रवृत्ति खोजना व्यर्थ न जायेगा ।

वेदान्त-दर्शन के प्राचीन व्याख्याता गौडपाद से यदि हम प्रारम्भ करे तो देखेगे कि वे ब्रह्म को ही एकमात्र सत् वस्तु और अन्तिम तत्व मानते है ।वह देश-काल वस्तु अपरिच्छिन्न, अनादि-अनन्त चेतन तत्व है । उसमे भौतिकता का कोई लक्षण नही है । उसमे जगत और जीव का भेद आभास मात्र है । वेदान्त मे विचक्षण पुरुष जगत को वैसे ही देखते है जैसे कोई स्वप्न, माया या गधर्व नगर को देखे ।'[२] ब्रह्म न किसी का कारण है, न कार्य है । उससे जगत या जीव उत्पन्न ही नही हो सकते । इसलिए 'न प्रलय है, न उत्पत्ति, न कोई बद्ध है और न मुक्त, न कोई साधक है और न मुमुक्षु ।'[३] इसे अजातवाद कहते है । इसके अनुसार भौतिक तत्व नाम की कोई वास्तविकता नही है । जिसे हम प्रकृति या जड़ वस्तु समझते है वह अभास मात्र है । वह तीनों काल में कही कुछ भी नही है । व्यक्ति या जीव का नानात्व भी उसी प्रकार मिथ्या है । वह तात्विक रूप से ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नही है ।

इस सिद्धान्त मे भौतिकवादी प्रकृति रंचमात्र भी नही मिलती है । बाह्य जगत की तो बात ही क्या अपना चित्त या मन बुद्धि भी आकाश मे पक्षियो के चरण-चिह्न के समान है ।[४]

1- Sri K. K. Mittal Materialism in Indian Thought P. 242

२- स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वं नगर यथा ।
तथा विश्वमिद दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः । माण्डूक्य कारिका २.३१

३- न निरोधो न चोत्पत्तिर्नबद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ मा० का० २.३२

४- 'खे वै पश्यन्ति ते पदम्' मा० का० ४. २८

शंकराचार्य यद्यपि गौडपाद की परम्परा मे उनके शिष्य के शिष्य है, किन्तु वे अजातवाद से थोडा हटकर वेदान्त की व्याख्या करते है। उनके अनुसार भी अन्तिम तत्व सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही है किन्तु उसी की अनिर्वचनीय शक्ति माया से जगत और जीव के नानात्व की उत्पत्ति होती है। नानात्व की व्याख्या के लिए माया को उत्तरदायी मानने के कारण शकर को प्रायः 'मायावादी' कहा जाता है। जो लोग जगत की सत्ता से प्रभावित होकर उसके कारणभूत माया को समझने का प्रयास करते है, वे मिथ्या माया को भी सत्य समझ लेते हैं और शंकर को मायावादी कहने का दुःसाहस करते है।

शंकर के अनुसार यह जगत रज्जु-सर्प के समान भ्रामक प्रतीति है और यह भ्रम माया से उत्पन्न हुआ है। माया एक ओर विचित्र जगत की कल्पित रचना करती है और दूसरी ओर अविद्या का रूप धारण कर बुद्धि मे उसके प्रति सत्यत्व की धारणा उत्पन्न करती है। सत्य एक मात्र ब्रह्म ही है। वह अपनी सत्यता के कारण अविकारी, अक्रिय, और अरूप है। वह अपने से या अन्य किसी वस्तु से जगत आदि की रचना नही कर सकता। किन्तु यदि उससे पृथक् कुछ भी भासित होता है तो उसका कारण वही हो सकता है अन्य कुछ भी नही। इसलिए दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म जगत का कारण न होते हुए भी उसका कारण है। यहाँ ब्रह्म और जगत मे कार्य-कारण सम्बन्ध 'विवर्तवाद' का है। इसका दृष्टान्त रज्जु सर्प या रजत-सीप हो सकता है।

शकर का दर्शन तात्विक दृष्टि से ब्रह्मवाद है और जगत की दृष्टि से मायावाद। जगत की जड़ता या भौतिकता का कारण ब्रह्म नही हो सकता, क्योंकि उसमें ऐसे कोई चिह्न या धर्म नही है। फिर भी इसका कारण खोजे तो त्रिगुणात्मक माया को ही उसका उत्तरदायी मानना पडेगा। उसमे ही भौतिकता का कुछ लेश हो सकता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि ब्रह्म अभौतिक तत्व है, किन्तु उसमे एक ऐसी अद्भुत शक्ति है जो उसके विपरीत गुण धर्मों को उत्पन्न कर सकती है। यह रचना सत् के स्थान मे असत् चित् के स्थान मे जड़ और आनन्द के स्थान मे दुःख रूप जगत का आभास उत्पन्न करती है। ब्रह्म की एकता से अनेकता और अपरिच्छिन्नता से परिच्छिन्नता उत्पन्न होती है। इस सृष्टि के असत् स्वरूप पर ध्यान रखे तो भौतिकता के लिए यहाँ कोई अवकाश नही है, किन्तु यह ध्यान हटते ही यह प्रतीत होने लगता है कि भौतिकता के कुछ चिह्न यहा अवश्य है। अतः हम कह सकते हैं कि शकर के अद्वैतवादी वेदान्त-दर्शन मे भौतिकवादी प्रवृत्ति नाम मात्र को ही है।

रामानुज के विशिष्टाद्वैतवादी वेदान्त दर्शन मे भौतिकताअपने पैर

जमाने का प्रयास करने लगती है। इस दर्शन मे परम सत् ब्रह्म ही है, किन्तु वह सगुण ईश्वर रूप है। उसके अतिरिक्त सजातीय या विजातीय कोई अन्य तत्व नही है किन्तु उसमे स्वतः ही चित् और अचित् का भेद है। जीव उसके चित् अग और जगत् उसका अचित् अग है। ये दोनों ही ईश्वर के शरीर है।

ईश्वर असीम अतिशय ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज प्रभृति असख्य कल्याणमय गुण-समूहों का महान् समुद्र है।[1] उसका दिव्य श्री विग्रह स्वेच्छानुरूप सदा एकरस अचिन्त्य दिव्य अद्भुत नित्य निर्मल निरतिशय औज्वल्य, सौगन्ध्य, सौन्दर्य, सौकुमार्य,लावण्य और यौवन आदि अनन्त गुणो का भण्डार है। विविध विचित्र अनन्त भोग्य और भोक्तृवर्ग से परिपूर्ण निखिल जगत, उद्भव, पालन और सहार उनकी लीला है[2] वह सब में व्याप्त और सबसे परे है। समस्त चित् अचित् जगत् उसके महान व्यक्तित्व के एक सहस्त्रवे अंश मे विद्यमान है।[3] वह प्रकारद्वय विशिष्ट एक वस्तु होने के कारण रामानुज का वेदान्त विशिष्टाद्वैतवादी है।[4]

इस प्रकार ईश्वर से पृथक् कोई स्वतन्त्र भौतिक वस्तु न होने के कारण य दर्शन अध्यात्मवाद का ही प्रतिपादन करता है, किन्तु ईश्वर मे ही भेद और अचित् वस्तु की सत्ता स्वीकार कर लेने से तथा जगत् को सत्य मानने से यह सिद्ध होता है कि रामानुज के दर्शन मे भौतिक तत्व धीरे से प्रविष्ट हो गया है, भले ही उसका विशिष्ट महत्व न हो।

रामानुज के अनुसार ब्रह्म की दो अवस्थाये हैं—एक कारण और दूसरी कार्यावस्था। कारणावस्था मे संसार चेतन और अचेतन वस्तुओं सहित ब्रह्म मे अव्यक्त भाव से रहता है और कार्यावस्था मे जीव और अन्य जड़ वस्तुयें व्यक्त रूप में आ जाती है। इनका कारण ब्रह्म होने के कारण ये भी सत् है। जीव ईश्वर का अश है। यद्यपि यह स्वीकार किया गया है कि जीव ब्रह्म की तरह चेतन सत्ताये है, उनका तात्विक स्वरूप आनन्दमय है किन्तु सर्वव्यापी ब्रह्म के विपरीत वे अणुरूप है। उन्हे अणुत्व या परिच्छिन्नता कैसे प्राप्त हुई। किसी भौतिक वस्तु के हस्तक्षेप के बिना एकरस चित् तत्व मे विभाजन या अंश होने की कल्पना कैसे की जा सकती है? इसकी तुलना जैनो के जीव और साख्य के

१- रामानुज भाष्य गीता, प्रस्तावना पृ० ६

२- 'स्वसकल्पकृत जगदुदयविभवलयलील', वही, १.२३

३- वही, १०.४२

४ रामानुज भाष्य ब्रह्मसूत्र १ १ १

पुरुष से की जा सकती है । वहाँ की भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ यहाँ भी किसी न किसी रूप मे विद्यमान दिखाई देती है। इसमे व्यावहारिक दृष्टि का भी आग्रह प्रतीत होता है, जिसके कारण जीवो को अनेक माना गया है और इस बात पर ध्यान नही दिया गया कि जीवो का विभाजक तत्व क्या है। मुक्तावस्था मे भी उनका वैयक्तिक रूप नष्ट नही होता । इसका तात्पर्य यह है कि उनकी अनेकता का कारण अज्ञान नही है। डॉ० नौलखा लिखते है, "जीव को अणुरूप मानने से उसे देश (स्पेस) के अन्तर्गत सीमित समझना पडेगा और इसके परिणाम स्वरूप वह अन्य वस्तुओं की तरह स्वय भी भौतिक ही होगा।[1] इसके अतिरिक्त स्वय ब्रह्म मे देश की कल्पना करने से उन अनेक शास्त्रो का विरोध होता है जो उसे शुद्ध चेतन और अन्तर बाह्य भेदो से मुक्त कहते है। इस अवधारणा से हमारे सामान्य अनुभव की भी उपेक्षा होती है क्योकि हम भौतिक वस्तुओ को देश के अन्तर्गत और चेतना को देश से मुक्त समझकर दोनो में भेद करते है। जब पानी की एक बूँद तालाब मे पड़ने पर समग्र जल के साथ एकाकार हो जाती है और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त कर देती है तो यह समझ मे नही आता कि किसी भौतिक व्यवधान के बिना जीव तत्वत ब्रह्म के समान होते हुए भी ब्रह्म के अन्तर्गत अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कैसे बनाये रखता है।

इतना ही नही, यदि रामानुज ईश्वर और जीव के बीच अंशी अश सम्बध मानते है तो इसका अर्थ यह है कि ईश्वर में भी विभाजन हो सकते है। वह भी एक प्रकार का भौतिक तत्व है। विभाज्य होने के कारण वह विनाशी है, अथवा परमाणुवादियो की पृथ्वी के समान वह परमाणुओ से निर्मित है और स्वय भी सृष्टि-प्रलय का हेतु है। ये परिणाम रामानज को मान्य न होगे। इसका तात्पर्य है कि उनका चिन्तन भौतिकवादी प्रवृत्ति से प्रभावित है। इतना तो मानना ही पडेगा कि तात्विक दृष्टि से ईश्वर की चेतना अचित् वस्त के अधीन नही है वरन् वह चित् स्वरूप परमात्मा की ही एक शक्ति है और उसी पर अपनी सत्ता के लिए निर्भर है।

वल्लभाचार्य का मत शुद्धाद्वैतवाद है जिसके अनुसार परमात्मा या ईश्वर ही एक मात्र सत् वस्तु है। उसमे मिथ्या माया को कोई स्थान नही है। ईश्वर ही बिना माया की सहायता केलिए अपनी ही आविर्भाव और तिरोभाव शक्ति से जगत का रूप धारण कर लेता है और उसे अपने मे समेट लेता है। इस प्रकार यह जगत तत्वत: परमात्मा ही है। इसकी जडता परमात्मा का धारण किया बाहरी रूप है। इस प्रकार ईश्वर जगत का निमित्त और उपादान कारण दोनो है। ईश्वर ने एक से अनेक होने की इच्छा की और वह अनेक हो गया। ऐसा

1 डॉ० रामस्वरूप सिह नौलखा शकर का ब्रह्मवाद पृ० ३४२

करने मे ईश्वर मे कोई विकृति नही आई । जगत की रचना उसके व्यक्त और अव्यक्त होने की घटना है। भूत पदार्थ ईश्वर का अविकृत परिणाम है। अत: ब्रह्म ही मब है और सभी ब्रह्म है। वह अपरिवर्तनीय है और साथ ही परिवर्तनीय भी, वह कूटस्थ है और गतिवान भी।

जगत की रचना मे ईश्वर के सभी लक्षण व्यक्त नही होते है। वह अपनी इच्छा से अपने आनन्द लक्षण का दमन कर जीव की रचना करता है और आनन्द तथा चेतना लक्षणों का दमन कर जड वस्तुओ की रचना करता है और उन सब मे स्वय समान रूप से विद्यमान रहता है। इसलिए यह संसार उस प्रकार मिथ्या नहीं है जैसे शकर मानते है, वरन् वह ब्रह्म के समान ही सत्य है। किन्तु वल्लभ संसार और उसके नानत्व मे भेद करते हैं। वे संसार को सत्य मानते है किन्तु उसके नानात्व को मिथ्या बताते है। इसलिए हम सब संसार के प्रति जो सत्यत्व बुद्धि रखते है वह ठीक है, किन्तु हमारी गलती यही है कि हम संसार की बहुलता या भिन्नता को भी सत् मान लेते हैं।

वल्लभ की जीव–विषयक धारणा लगभग वैसी है जैसी रामानुज की है। जीव अनेक हैं और अणु रूप है। भक्ति की साधना से मुक्त होकर जीव शुद्ध ज्ञान-स्वरूप रहता है किन्तु ससार की अवस्था पर नियन्त्रण रखने का अधिकार नही है।

इन मान्यताओ मे भौतिकवादी प्रवृत्ति बहुत कम है, फिर भी उसका पूरा परित्याग नहीं कहा जा सकता।

५

एम० एन० राय का भौतिकवादी वस्तुवाद

परम्परावादी भारतीय दर्शनो मे अध्यात्मवाद की अपेक्षा भौतिकवादी प्रवृत्तियाँ ही अधिक हैं। वेदान्त दर्शन का आधार अध्यात्मवाद ही है किन्तु उसके व्याख्याता किसी न किसी स्तर पर और किसी न किसी रूप में भौतिकवादी प्रवृत्तियो से प्रभावित रहे है। इस दृष्टि से उनका अध्ययन करने पर यह तथ्य प्रमाणित हो जाता है। फिर भी कुछ विद्वानो के बीच यह धारणा प्रचलित रही है कि भारतीय दर्शन प्रधान रूप से अध्यात्मवादी है और उसमे शकर का अद्वैत वेदान्त सब मे अधिक वर्चस्व रखता है। वही भारत का प्रतिनिधि दर्शन माना जाता है।

वर्तमान काल मे अनेक चिन्तको ने अध्यात्मवादी दर्शन का ही समर्थन किया और उन्होने अपने ढग से उसे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इनमे स्वामी विवेकानन्द, अरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गाधी, सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, कृष्ण चन्द्र भट्टाचार्य आदि के नाम प्रमुख है। फिर भी भौतिकवादी दार्शनिको का अभाव नही है। उनकी एक लम्बी पक्ति है। जी० सी० चटर्जी अनुभववादी, रासबिहारी दास यथार्थवादी और मानवेन्द्रनाथ राय अपने को भौतिकवादी कहते है। निकुंज बिहारी बनर्जी और के० सच्चिदानन्द मूर्ति प्रत्यक्षवाद से प्रभावित अनुभववादी कहे जाते है। आ० नरेन्द्रदेव, राहुल साकृत्यायन और धर्मानन्द कौशाम्बी की गणना साम्यवादी भौतिकवादियो मे होती है। देवी प्रसाद चटोपाध्याय के अनुसार समस्त भारतीय दर्शन में भौतिकवाद की गूँज छाई है। वे भी उसका समर्थन करते है।

आधुनिक भौतिकवादियो मे मानवेन्द्रनाथ राय को भारत का अग्रणी दार्शनिक माना जाता है। भारतीय दर्शन में उनकी देन का हम विस्तृत विवेचन करेगे। उनका जीवन काल १८८६ और १९५४ के मध्य है। चौदह वर्ष की आयु मे जब उन्होने अपने आस पास विदेशी शासन के विरुद्ध क्राति का वातावरण पाया तो वे भी उस क्रान्ति के एक अस्त्र बन गये। साधनों को जुटाने के लिए

वे अनेक देशों में घूमते हुए रूस पहुँचे। वहाँ उन्होंने मार्क्स के दर्शन का अध्ययन किया और उसमे उन्हे क्रान्ति के प्रेरणादायक सूत्र मिले। अत उस विचारधारा से प्रतिबद्ध वे सन् १६२० मे भारत लौटे। यहाँ उन्होंने कांग्रेस पार्टी की सदस्यता आदोलन मे भाग लिया, किन्तु गांधीवादी विचारो से उनका मेल न खाने के कारण उन्होंने वह पार्टी छोड दी और रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी मे सम्मिलित हो गये। उन्होने 'दि मार्किसियन वे' नाम की पत्रिका भी निकाली। कुछ दिनो मे उनके सिर से मार्क्स का प्रभाव कुछ कम हो गया। उन्होंने अपने स्वतन्त्र चिन्तन से भौतिकवादी पद्धति विकसित की। उनकी पत्रिका के नाम परिवर्तन से उनके विचारो का परिवर्तन ज्ञात होता है। उनकी पत्रिका का नया नाम 'दि ह्यूमनिस्ट वे' था। अब वे 'नवमानवतावादी' थे। इस विचारधारा की रूपरेखा उन्होंने १६४३ में रेडिकल डिमोक्रेटिक पार्टी के अधिवेशन मे प्रस्तुत की।

भौतिकवाद

एम० एन० राय के मानवतावाद का आधार उनका भौतिकवादी दर्शन है। भौतिकवाद से ही मानवता का अभ्युदय होगा और भारत का नव-निर्माण भी इसी से होना है।[1] जैसे पश्चिम ने ईसाई अध्यात्मवाद की मान्यतायें त्याग कर भौतिकवाद स्वीकार किया, वैसे ही भारत के अध्यात्मवादी अंधविश्वासो की गठरी सिर से नीचे फेक कर तर्कसगत भौतिकवादी दर्शन स्वीकार करना होगा। अध्यात्मवाद का विरोधी दार्शनिक भौतिकवाद ही है। उसका 'खाओ पिओ और मौज करो' के पालन से कुछ लेना-देना नहीं है।[2] भारतीय राष्ट्रीयता की दुर्बलता उसकी अध्यात्मवादी दृष्टि ही है। स्पष्ट है कि राय भारत की प्रगति रूस की भाँति चाहते थे और उन्हे मार्क्स का ही रास्ता उचित दिखाई दे रहा था। उन्ही से प्रभावित होकर वे कहते है, "दार्शनिक भौतिकवाद मुक्ति का सन्देश है। अध्यात्मवाद तो सब प्रकार से धर्म ही है और शासक वर्ग के हाथ मे वह ऐसे अस्त्र के रूप मे विद्यमान है जो उनके पद और सुविधाओ की रक्षा करता है।[3]

राय ने भौतिकवाद को ही एक मात्र दर्शन मानने और सिद्ध करने के लिए अध्यात्मवाद मे दोष दिखाये है। वे दार्शनिक भौतिकवाद को अध्यात्मवाद का विरोधी मानकर सब से पहले यह सिद्ध करते है कि अध्यात्मवाद दर्शन ही नही है। वे पाइथागोरस द्वारा दी गयी दर्शन की परिभाषा का उल्लेख करते

---

1 "Materialist philosophy has to be called in to assist at the re-birth also of India" Materialism, p. 27
2 Materialism p. 26
३ वही पृष्ठ ३०

हुये कहते है कि दर्शन का प्रारम्भ ही प्रकृति के स्वरूप का अध्ययन और अनुसधान से हुआ है। अपने विकास क्रम मे भी वह नाना रूप प्रकृति के ही एक मूल आधार की खोज करता रहा है। भौतिकता से परे किसी अभौतिक तत्व की प्रकल्पना दर्शन से बाहर चली जाती है। उन प्रकल्पनाओ से अधविश्वासो की उत्पत्ति होती है। उनसे हमारा मनोरंजन भले ही हो किन्तु बौद्धिक तुष्टि नही होती।

मैटाफिजिक्स भी प्रकृति के नाना रूपों का एक तात्त्विक आधार खोजता है किन्तु वह अपना दार्शनिक आधार खो देता है।[1] उसमे सत्य नही वरन् स्वप्न की कल्पना है, ज्ञान नही वरन् भ्रम है। वे फूयरबेक का समर्थन करते हुए कहते है कि मैटाफिजिक्स उस भूखे पशु की भाँति है जो किसी प्रेत के बश मे इधर-उधर दौडा फिरता है किन्तु उसे चारा नही मिलता, जब कि उसके चारों ओर हरियाली छायी है।

अतः यथार्थ मे भौतिकवाद ही दर्शन है और उसी में एक मात्र दार्शनिक चिन्तन की सभावना है।[2] भौतिकवाद प्रकृति की घटनाओं के निरीक्षण, खोज तथा चिन्तन के आधार पर उसके वास्तविक रूप का ज्ञान प्रस्तुत करता है। यह उस प्रकार का भयावह दर्शन नहीं है जैसा कि सामान्यतः इसे चित्रित किया जाता है। यह विद्वेषी एव अज्ञ विरोधियो द्वारा प्रचारित 'खाओ, पियो और मौज करो' का दर्शन नही है। भौतिकवाद का सीधा सा अर्थ है कि सभी सत्तावान वस्तुओं का मूल स्रोत भौतिक द्रव्य (मैटर) है और उसके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की सत्ता नही है। सभी वस्तुयें भौतिक द्रव्य का रूपातरण हैं और यह रूपान्तरण प्रकृति मे निहित नियमो से अनिवार्यत नियन्त्रित है।

भौतिकवाद किसी अति-प्राकृत सत्ता को स्वीकार नही करता क्योकि मनुष्य द्वारा वह नही जाना जा सकता। मनुष्य प्रकृति की ही एक उपज है और वह प्रकृति के नियमो से आबद्ध है।[3] मनुष्य जब प्रकृति के पार जाने का प्रयास करेगा तो उसे श्रद्धा या कल्पना से काम लेना पडेगा। किन्तु श्रद्धा या कल्पना दर्शन नही है। वहाँ दर्शन का क्षेत्र समाप्त हो जाता है। दर्शन का सम्बन्ध मूर्त और सत्तावान जगत है। इसलिए भौतिकवाद ही दर्शन हो सकता है। इस दर्शन मे केवल वही प्रकल्पनाये स्वीकार की जाती है जिनका सत्यापन अनुभव के द्वारा

१- मैटीरियलिज्म, पृष्ठ ३३

२- वही, पृष्ठ ३४

3. "Man himself is a product of nature and therefore limited by the laws of nature." Materialism.p. 35.

४- वही, पृष्ठ ३७

हो सकता है । यूनान के प्राचीन आयोनिन चिन्तको ने जगत की भौतिक व्याख्या के द्वारा ही दर्शन का सूत्रपात किया था । वे दृश्य जगत के मूल मे किसी एक तत्त्व की खोज मे थे ।

प्रकृति के नियमो और उसके मूल तत्त्व की जिज्ञासा से दर्शन और विज्ञान दोनो की उत्पत्ति हुई ।[1] मनुष्य कुछ कौतूहल से और कुछ अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने के उद्देश्य से प्राकृतिक घटनाओ का परीक्षण और शोध करता रहा है । अतः भौतिकवाद की उत्पत्ति मनुष्य के किसी स्वाभाविक आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतिरोध करने से नही हुई वरन् वह आदिम मानव की काल्पनिक और भ्रामक धारणाओ से छुटकारा दिलाता हुआ यथार्थ के दृढ आधार पर विकसित हुआ है । आज तक अति भौतिक प्रकल्पनाओ और भौतिक यथार्थवादी विचारों के मध्य सघर्ष होता रहा है । पाश्चात्य और भारतीय दर्शन इसी सघर्ष के इतिहास है ।

एम० एन० राय का मत है कि अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद आदि मानव की अविकसित बुद्धि की निराधार कल्पना थी । ज्ञान के विकास के साथ वह धारणा निर्मूल सिद्ध हो चुकी है । मानव विकास की प्रक्रिया के अपरिहार्य परिणाम के रूप में आधुनिक भौतिकवाद विकसित हुआ है और यही अब यथार्थ दर्शन है । अब यह सिद्ध हो चुका है कि भौतिक द्रव्य मन या चेतना की मिथ्या उत्पत्ति न होकर एक वस्तुगत वास्तविकता है । इस सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है कि भौतिक द्रव्य का मूल रूप क्या है ? बीसवी शती के पूर्व तक वह अणु रूप माना जाता रहा किन्तु परमाणु अब अंतिम अविभाज्य इकाई नहीं है । अब उसका भी विभाजन हो गया है और वैज्ञानिक खोज करते हुये हम ऊर्जा तक पहुँच गये है । सभी दृश्यमान वस्तुओ की उत्पत्ति और सहृति उसी ऊर्जा से हुई है । देश और काल को भी अब भाव (बीइग) और सभावना (बिकमिंग) के रूप मे जाना जाता है । भाव की अपेक्षा से ही सभवन होता है । इसलिए परिणमित होती हुई वस्तु ही देश और काल दोनो है ।

हेराक्लाइट्स और बौद्धो की भाति एम० एन० राय भी परिवर्तनशीलता को वस्तुओ का स्वभाव मानते है । जगत और उसका अंगभूत मनुष्य सतत परिवर्तित होने की माग करते है । किसी व्यवस्था को अथवा किसी ज्ञान को अंतिम मान लेना प्रकृति के विरुद्ध है और नासमझी का हेतु है । भौतिकवादी दर्शन मनुष्य को संसार मे परिवर्तन लाने के लिए प्रेरित करता है और उसी प्रक्रिया में स्वय मनुष्य भी परिवर्तित होता है ।

---

1 "It was a natural development of the spirit of man freed from primitive ignorance" Materialism P 42

भौतिकवाद की विशेषतायें

राय ने भौतिकवाद की कुछ विशेषतायें बताई है जिनके कारण यह दर्शन अन्य दर्शनो की रचना प्रक्रिया मे भिन्न है। सबसे पहले वे कहते है कि भौतिकवाद केवल उस स्थिति पर विचार करने मे सन्तुष्ट नही है जो विद्यमान है। वह विद्यमान की परीक्षा और खोज इस दृष्टि से करता है कि उसमे विनाश का क्या कारण है और ऐसे कौन तत्व है जो भविष्य मे उसकी किसी ऊँची स्थिति के कारण बन सकते है। यहाँ नित्य, शाश्वत या स्थिर कुछ भी नही है। परिवर्तन ही प्रत्येक वस्तु की प्रकृति है। इसलिए भौतिकवादी दर्शन से मनुष्य को यह प्रेरणा मिलती है कि वह जगत को भविष्य मे अधिक उत्कृष्ट रूप दे और उसके साथ बदल कर स्वय भी श्रेष्ठ बने।[1]

भौतिकवादी दर्शन अज्ञान के लज्जाजनक सिद्धान्त का खण्डन करता है। हमारे ज्ञान की कोई सीमा नही है। वैज्ञानिक अनुसंधान निरन्तर होते रहते है और उनके साथ हमारा ज्ञान विकसित होता रहता है। मनुष्य की बुद्धि के परे कुछ भी नही है। ईश्वर, श्रद्धा, धर्म, अति-भौतिक, रहस्य, यौगिक शक्तियाँ आदि विज्ञान के शत्रु है। भौतिकवाद इन सबका खण्डन करता है।[2]

इसके अतिरिक्त भौतिकवाद एक विकासशील दर्शन है। अन्य दर्शनो की भाति यह रूढिवादी नही है। नये ज्ञान के लिए इसने अपने द्वार बन्द नही किये है। इसका विचार क्षेत्र प्रकृति, इतिहास, समाज और मनुष्य का समस्त जीवन है। इन सभी क्षेत्रो मे ज्ञान के विकास का कोई अन्त नही है। इसलिए यह दर्शन किसी व्यक्ति या वर्ग विशेष का मानस पुत्र नही है।

भौतिकवाद क्राति का दर्शन होने के कारण पूर्व या पश्चिम मे कही उच्च वर्ग का समर्थन नही पा सकता, क्योकि वे सब समाज की स्थिर अवस्था बनाये रखना चाहते है। वे क्राति की आधी का सामना नही कर सकते। इसलिए वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की यथास्थिति मे रुचि रखने वाले लोग इस दर्शन का विरोध करते है।

पश्चिमी सभ्यता को भौतिकवादी समझने वाले लोग भ्रम मे है। वहाँ प्लेटो के समय से अति-भौतिक, आदर्शवादी धार्मिक, ईश्वरवादी और रहस्यवादी विचारो की प्रधानता रही है। ये सभी विचार भौतिकवाद के विरोधी है। वहाँ विज्ञान का विकास होते हुए भी भौतिकवाद का विकास नही हुआ।

यह भी एक भ्रम है कि अध्यात्मवादी ही आदर्शवादी होते है। वस्तुत. यदि कोई पक्का भौतिकवादी है तो वह मानवता के विकास और उसके हित के

१- मैटीरियलिज्म, पृष्ठ २६६

२ वही पृष्ठ २७०

लिए अपना सब कुछ त्यागने को तैयार रहेगा। उसका आदर्शवाद मानसिक और मौखिक नही वरन् व्यावहारिक है। भौतिकवादी का आदर्श उसके हृदय मे है, उसका प्रेरणा स्रोत है, जीवन से अभिन्न है और व्यवहार मे सर्वत्र स्पष्ट दिखाई देता है। वह भौतिकवाद का त्याग किए बिना आदर्श का त्याग नहीं कर सकता। वह न्याय और सत्य के लिए ही जीता है, क्योंकि वही उसका सुख है।

भौतिकवादी दर्शन मनुष्य को स्वय अपने भाग्य का निर्माता बना देता है। वह किसी ऐसी शक्ति पर विश्वास नहीं करता जो भविष्य मे उसके लिए स्वर्ग का द्वार खोल देगी। मनुष्य स्वय अपना इतिहास रचता है। उसे अपने पर विश्वास है। इसलिए यह दर्शन मानवतावादी है।

चेतना की उत्पत्ति

भौतिकवादी दर्शन मे सबसे कठिन समस्या चेतना की व्याख्या है। उसके स्वरूप और सत्ता का निर्धारण करना आवश्यक है। किन्तु राय की दृष्टि मे यह कोई कठिन समस्या नही है। वे कहते है कि आधुनिक-जीव-विज्ञान ने मनुष्य के आविर्भाव का रहस्योद्घाटन कर दिया है। वह जैविक विकास के फलस्वरूप सम्भव हुआ है। मनुष्य और जड द्रव्य के बीच जैविक विकास की एक लम्बी शृंखला विद्यमान है। उससे स्पष्ट ज्ञात होता है निर्जीव द्रव्य से पहले सजीव द्रव्य की उत्पत्ति होती है और फिर सजीव द्रव्य से चेतना का आविर्भाव होता है। इसीलिए मनुष्य मे जड प्रकृति की जडता, जैविक प्रकृति का जीवन और अन्त मे विकसित हुई बौद्धिक चेतना भी है।

मनुष्य जगत का एक अंग होकर जगत के नियमो से परिचालित होता है, किन्तु जड जगत और चेतन मनुष्य के नियमो में अन्तर है। मनुष्य को कुछ सीमा तक चयन की स्वतन्त्रता प्राप्त है वह जड़ जगत मे नही है। मनुष्य पूर्ण-यन्त्र के समान घूमने वाला नही है। उसमे बुद्धि का विकास हुआ है और उसी के साथ उसे स्वतन्त्रता भी मिली है। यह स्वतन्त्रता अधिक से अधिक प्राप्त करना ही मनुष्य का लक्ष्य है। मनुष्य जब अपनी तर्क बुद्धि का प्रयोग त्यागकर ईश्वर या किसी अति-भौतिक तत्व की कल्पना कर अपने को उसी का दास बना देता है तो वह परतन्त्र हो जाता है। तर्क बुद्धि ही मनुष्य को इस परतन्त्रता से मुक्ति दिला सकती है।

मनुष्य का स्वार्थी होना या ईश्वर परायण होना उसका स्वभाव नहीं है। दार्शनिकों ने इस प्रकार की मिथ्या धारणा फैला रखी है। मनुष्य को स्वार्थी कहकर उस पर राज्य-नियन्त्रण थोपने की साजिस की जाती है और ईश्वर

परायण बताकर उसे मानसिक रूप से दास बनाया जाता है। इसी प्रकार मनुष्य कोई देवता भी नही है। उसके अन्दर कोई दिव्य तत्व की कल्पना करना मिथ्या है। वह अपने किसी दिव्य रूप पर आश्रित रहकर भौतिक आवश्यकताओ से छुटकारा नही पा सकता। मनुष्य का आविर्भाव एक भौतिक घटना है। भौतिक जड जगत से जीवन का विकास और जीवधारियो मे मनुष्य का विकास आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा प्रमाणित है। अन्य पशुओ की अपेक्षा मनुष्य मे अधिक बुद्धि और चेतना का विकास हुआ है। मनुष्य के इस यथार्थ रूप को ही स्वीकार कर उसके जीवन और समाज की सही व्यवस्था हो सकती है।

नव-मानवतावाद

राय मानवतावाद के समर्थक है। उनकी दृष्टि में जैसे भौतिकवादी दर्शन आदि कालीन और शाश्वत है, उसी प्रकार मानवतावाद भी। वर्तमान समय मे मनुष्य के सामने वैयक्तिक, सामाजिक या राजनैतिक जितनी भी समस्याये है उनका मूल कारण मानव प्रकृति के सम्बन्ध मे मिथ्या धारणा ही है। मनुष्य को अन्यथा समझकर जो भी व्यवस्थाये बनाई जाती है वे अपेक्षित परिणाम नही देती। उनकी असफलता का कारण उसी की प्रकृति है। मनुष्य के वास्तविक स्वरूप को ध्यान मे रखकर जो योजनाये बनेगी, उनके सफल होने मे मनुष्य की प्रकृति ही सहायक होगी। इसलिए राय कहते है कि जगत की सभी समस्याओ का कारण मनुष्य का अपने आप को भूल जाना है। मनुष्य अपने को जाने कि वह मनुष्य है। इतना ही बहुत है। वह अपने को एक पशु या उसके विपरीत अपने को एक देवता मान लेता है तो वह भूल करता है।

आत्मा के विषय मे राय का मत है कि शरीर से पृथक् और अपनी सत्ता से स्वतन्त्र रह सकने वाली आत्मा नही है। भौतिक तत्त्व ही विश्व का मूल तत्त्व है। उसके अन्य गुणो के समान चेतना भी उसका एक गुण है। जैसे सब गुण जगत में सर्वत्र नही दिखाई देते वैसे ही चेतना भी जगत मे सर्वत्र उपलब्ध नही है। भौतिक तत्त्व तो अविनाशी और नित्य है। यह विज्ञान से सिद्ध है। किन्तु चेतना उसके समतुल्य एक नित्य वस्तु सिद्ध नहीं होती। वह अन्य गुणो के समान उत्पन्न और लय होती है।

मृत्यु होने पर शरीर नष्ट होता है। उसके अवयव भूत तत्त्वों में मिल जाते हैं। उसी के साथ चेतना का गुण लीन हो जाता है। दूसरा जन्म लेने के लिए कोई आत्मा जैसा तत्त्व शेष नही रह जाता। आत्मा की अमरता और पुनर्जन्म का सिद्धान्त विज्ञान से सिद्ध नही होता।

तर्क की कसौटी पर पुनर्जन्म का सिद्धान्त देखे तो पूर्वजन्म की स्मृति

आत्मा की अमरता सिद्ध नहीं करती, इसलिए उसका पुनर्जन्म भी सम्भव नही है। स्मृति मस्तिष्क का गुण है। वह एक शारीरिक प्रक्रिया है। मस्तिष्क जैविक द्रव्य से निर्मित है। बिना शरीर का कोई मस्तिष्क हो नही सकता, इसलिए शरीर छोड कर आत्मा मे न स्मृति हो सकती है और न पुनर्जन्म। यदि आत्मा मे स्मृति मान ले तो इसका अर्थ यह है कि मस्तिष्क ही आत्मा है और वह भौतिक है। अतः यदि कोई अशरीरी आत्मा है तो उसमे स्मृति की क्रिया नहीं हो सकती।

साख्य वेदान्त आदि दर्शनो मे सूक्ष्म शरीर के साथ आत्मा का पुनर्जन्म माना गया है। बुद्धि और स्मृति सूक्ष्म शरीर के ही अग है। इसलिए दूसरे जन्म मे स्मृति सम्भव है। राय कहते हैं कि सूक्ष्म शरीर अशरीरी आत्मा नहीं है, वरन् भौतिक शरीर की प्रतिकृति है। इसके साथ यह कठिनाई उत्पन्न होती है कि यदि सूक्ष्म शरीर जैसा भौतिक तत्त्व मृत्यु पश्चात भी नष्ट नही होता तो अगले जन्म के पूर्व और वर्तमान मृत्यु के पश्चात उसकी क्या स्थिति होती है? इस प्रकार का कोई वैज्ञानिक प्रमाण नही है जिससे सिद्ध हो कि मरने पर स्थूल शरीर छोडकर कोई सूक्ष्म शरीर जैसी सत्ता बाहर जाती हो। इसके अतिरिक्त यदि सूक्ष्म शरीर भौतिक रचना है तो वह भी नश्वर होना चाहिए। अतः आत्मा अशरीरी होने के कारण उसमें स्मृति नही हो सकती और स्मृति धारण करने वाला सूक्ष्म शरीर मरने के बाद कायम नही रह सकता। इस कारण न पुनर्जन्म सम्भव है और न उसकी स्मृति। यदि पूर्व जन्म की स्मृति सम्भव होती तो हम सब को उसकी स्मृति होती, किन्तु ऐसा नही है। वस्तुतः अमर आत्मा और पुनर्जन्म की अवधारणा ही अवैज्ञानिक है।

दर्शन के सम्बन्ध मे राय की धारणा है कि उसका वास्तविक क्षेत्र मनुष्य का यथार्थ जीवन है। इसलिए वे मनुष्य के शारीरिक व्यक्तित्व पर ही अधिक बल देते है। नित्य आत्मा और पुनर्जन्म उनके लिए न जीवन की वास्तविकता है और न दर्शन का विषय। उनके दर्शन का उद्देश्य समाज की रचना है। इसलिए वे मनुष्य के उसी रूप और सामर्थ्य पर ध्यान केन्द्रित रखते है जो उनके उद्देश्य को पूरा कर सकें। उनकी दृष्टि मे मनुष्य का जो स्वरूप है वह उनके दर्शन मे विशेष स्थान रखता है। इसलिए उनका दर्शन नव-मानवतावाद या वैज्ञानिक मानवतावाद कहलाता है।

इसके अनुसार मनुष्य की वैयक्तिकता और स्वतन्त्रता सबसे प्रथम और सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। समाज मनुष्य की इकाइयो से निर्मित और उसके बाद है। इसलिए व्यक्ति की स्वतन्त्रता सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं से ऊपर है। इसलिए एक ऐसे समाज की रचना होनी चाहिए जिसमें सामाजिक

व्यवस्था रहते हुए भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता सुरक्षित रहे। नव मानवतावाद इसी समन्वय का प्रतिपादन करता है।

मार्क्स द्वारा स्थापित साम्यवाद मे राज्यसंस्था प्रधान बन गयी और व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण हो गया। प्रजातन्त्र की प्रणाली में राजनीतिक दलों को वोट चाहिए। भावुकता और प्रलोभन के द्वारा वे जनता से वोट लेकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते है। उनके लिए लोगो का पिछड़ापन, निर्धन और अपढ़ होना उपयोगी है। इस प्रकार प्रजातन्त्र प्रजानायकवाद मे बदल कर व्यक्ति की स्वतन्त्रता अपहृत कर लेता है। इसलिए मनुष्य की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए नव-मानवतावाद इन प्रचलित राजनैतिक व्यवस्थाओं का विरोध करता है।

राय मनुष्य को स्वार्थी मानने की अपेक्षा अन्य मनुष्यो का सहयोगी और सहायक मानते है। जो आर्थिक व्यवस्था मनुष्य को स्वार्थी और संघर्ष तथा प्रतियोगिता मे प्रवृत्त मानती है और उसी के द्वारा उसकी प्रगति समझती है वह दोषपूर्ण है। ऐसी व्यवस्था में मनुष्य की शांति नष्ट होती है और प्रगति के नाम पर पीडायें बढ़ती है। मनुष्य स्वभावतः शुभ न्याय-परायण और नैतिक है। स्वतन्त्रता उसकी मूल इच्छा है। मनुष्य के इस स्वभाव और उसकी इस इच्छा का आदर और समर्थन किया जाना चाहिए।

नव मानवतावाद का प्रतिपादन करते हुए राय कहते है, "नव मानवतावाद इतिहास के इस मूल तथ्य पर बल देता है कि मनुष्य अपने समाज का निर्माता है, यह निर्माता मनुष्य विवेकशील होता है तथा विवेकशीलता का गुण व्यक्ति मे ही होता है। मस्तिष्क विचार का साधन है और यह साधन व्यक्ति के ही पास है। इसका सामूहिक स्वामित्व सम्भव नहीं है। प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों के नास्तिक विचार क्रांति के अग्रदूत होते है। विचारों के साहस से युक्त, स्वतन्त्रता की इच्छा के प्रति प्रगाढ़ रूप से सचेष्ट, स्वतन्त्र मनुष्यों के स्वतन्त्र समाज की कल्पना से सदीप्त तथा व्यष्टि को उसकी गरिमा तथा श्रेष्ठता के स्थान पर पुनर्प्रतिष्ठित करने के संकल्प से जगत का पुनर्निर्माण करने की इच्छा से युक्त मनुष्यों का समाज आधुनिक सभ्यता के वर्तमान संकट से बाहर निकलने का मार्ग प्रदर्शन कर सकता है।

अन्त मे समाज की ऐसी पुनर्रचना नागरिको की शिक्षा पर निर्भर होगी। ऐसे समाज में सामान्य प्रगति और समृद्धि होगी किन्तु उसमे व्यष्टि की स्वतन्त्रता मे कोई हस्तक्षेप अथवा उसका अतिक्रमण न होगा। नव-मानववाद संसार के ऐसे सामाजिक पुनर्निर्माण का पक्षधर है जो आध्यात्मिक रूप से स्वतन्त्र, नैतिक मनुष्यो से सहकारी प्रयासों से स्वतन्त्र मनुष्यों का राष्ट्रदल बन जाय।

नव मानवतावाद विश्वजनीन है आध्यात्मिक रूप से स्वतन्त्र मनुष्यों का

विश्वजनीन राष्ट्रकुल राष्ट्रवादी राज्यों–पूँजीवादी, फासिस्टवादी, समाजवादी साम्यवादी अथवा अन्य किसी प्रकार की सीमाओं से बँधा न होगा। मनुष्य के बीसवीं शताब्दी के पुनर्जागरण के प्रभाव में ये राज्य एवं इनकी सीमाएँ धीरे-धीरे तिरोभूत हो जायेंगी।"[1]

ज्ञान-मीमांसा

राय के अनुसार वस्तुओं का अस्तित्व उनके ज्ञान पर निर्भर नहीं है। वे स्वतन्त्र हैं। यदि उनका ज्ञाता कोई कहीं न हो तो भी वे अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के कारण विद्यमान रहती हैं। यद्यपि किसी वस्तु का ज्ञान होने पर ही उसका अस्तित्व भी सिद्ध होता है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वस्तु के ज्ञान के पूर्व वह अस्तित्व में थी ही नहीं। वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि मनुष्य का इतिहास केवल दस हजार वर्ष पुराना है। उसके पूर्व पृथ्वी लाखों वर्ष से ठंडी होती हुई जीवन उत्पन्न करने के योग्य बन रही थी। उस समय उसका ज्ञाता कोई न होते हुए भी वह विद्यमान थी। इसलिए भूत पदार्थ चेतना की उत्पत्ति के पहले भी विद्यमान थे। वे चेतना पर निर्भर नहीं हैं। चेतना उन पर निर्भर है। भूत पदार्थ का ही अंतिम विकसित रूप चेतना है।

राय ब्रह्म, ईश्वर या अनन्त चेतन तत्त्व की सत्ता नहीं मानते। उनमें से किसी के द्वारा मानवीय ज्ञान की व्याख्या नहीं हो सकती। मनुष्य के समस्त ज्ञान का आधार उसका इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इन्द्रियाँ और मस्तिष्क भौतिक तत्त्व हैं किन्तु उनमें चेतना का विकास हुआ है। इनकी चेतना वस्तुओं के साथ प्रतिक्रिया करती है और वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है।[2] वे हाइकेल के इस मत को स्वीकार करते हैं कि 'ज्ञान एक शारीरिक प्रक्रिया है, मस्तिष्क उस प्रक्रिया का सक्रिय अंग है। मस्तिष्क के जिस भाग में ज्ञान का उद्गम होता है, वह एक डाइनमो मशीन है जो लाखों भौतिक कोशों से निर्मित है।"[3]

इस प्रकार चेतना या ज्ञान भूत या द्रव्य से ही उत्पन्न होता है। उसमें सतत विकास भी होता रहता है। यह सापेक्ष है। विज्ञान में कुछ भी अंतिम सत्य और पूर्ण ज्ञान नहीं कहा जा सकता। ज्ञान सापेक्ष है और उसका अनन्त विकास होता रहता है, निरपेक्ष ज्ञान नये ज्ञान के लिए द्वार बन्द कर देता है।

नीति-दर्शन

राय ने इस बात को बार-बार दुहराया है कि भौतिकवाद खाओ, पियो

१- रीजन, रोमांटीसिज्म एण्ड रिवोल्यूशन, खण्ड २, पृ० ३१०

२- मैटीरियलिज्म, पृष्ठ २२७

३- मैटीरियलिज्म, पृष्ठ २४३

और मौज करो का दर्शन नही है। उन्होने स्टालिन को भी एक पत्र म लिखा था कि मैं इस विचार के साथ समझौता नही कर सकता कि क्रान्तिकारी सद्‌गुणो की सूची में सत्य, न्याय और निष्ठा जैसे गुणो को कोई स्थान न दिया जाय। मनुष्य के समाज मे नैतिकता का स्थान प्रमुख है। सभ्यता और बर्बरता के बीच नैतिकता और अनैतिकता का ही अन्तर है। यदि नैतिकता का कोई मानदण्ड नही है तो श्रेष्ठ मनुष्य और सभ्य समाज की कोई पहचान नही होगी। मनुष्य का विकास उसकी नैतिकता का ही उत्थान है।

प्रश्न यह है कि नैतिकता का आधार क्या है? भौतिकवादी दर्शन किसी ईश्वर या धर्म ग्रन्थ को प्रमाण न मानने के कारण मनुष्य और जगत मे ही नैतिकता का आधार खोजता है। राय पूर्वमान्य विधानवादी या प्रयोजनवादी सिद्धान्त स्वीकार नही करते। प्रयोजनवाद में नैतिकता का सम्बन्ध उपयोगिता से जोडा जाता है।

मनुष्य यदि ईश्वरी विधान को स्वीकार कर नैतिक व्यवस्था स्वीकार करता है तो वह एक दबाव मे या बन्धन मे रहता है। उसे नैतिक होने मे प्रसन्नता नही हो सकती। उसका तात्पर्य यह भी होता है कि मनुष्य एक मनुष्य की हैसियत से नैतिक होने मे अक्षम है।

उपयोगितावादी नीतिशास्त्र नैतिकता की व्यवस्था करने मे असमर्थ है क्योकि वह अनन्त नैतिकता का निषेध करता है। वह नैतिकता को सापेक्ष स्वीकार करके उसे विषयनिष्ठता से वञ्चित कर देता है।

राय नैतिकता का आधार स्वय मनुष्य को मानते है। मनुष्य की तर्क बुद्धि ही नैतिक नियमो का निश्चय करती है। प्रकृति के नियम ही मनुष्य की बुद्धि मे न्याय विवेक बना है। उसी से नैतिकता के नियम निश्चित हो सकते है। इस बुद्धि से भी सूक्ष्म न कोई अन्तःप्रज्ञा है और न आत्मा जिसके आदेश की हम प्रतीक्षा करे। तर्क बुद्धि मनुष्य का जैविक गुण है। जैविक विकास के कारण ही बुद्धि और नैतिक बोध उत्पन्न हुआ है। यह मनुष्य का स्वभाव है।

नैतिकता मनुष्यो का वैयक्तिक गुण है अर्थात व्यक्ति ही नैतिक होते है। नैतिक मनुष्यो की इकाई से निर्मित समाज भी नैतिक होता है। नैतिकता का गुण समाज मे स्वतन्त्र रूप से नही देखा जाता। कुछ दार्शनिको ने समाज और नैतिकता के नियम प्रधान कर दिये। मनुष्य को गौण बना दिया। यह उचित नही है। साम्यवादी दर्शन मे समाज की एक ऐसी रचना आवश्यक मानी गयी जिसमें रहकर व्यक्ति अपना उचित विकास कर सकता है। मानों व्यक्ति स्वय इतना सक्षम नही है कि वह अपने विवेक से उन्नतिशील बन सके। समाज उस पर हावी बना दिया गया।

वस्तुतः मनुष्य को आगे रखकर नीतिशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीति पर विचार करना चाहिए और तीनो पक्षो मे तालमेल भी रखना चाहिए। परिवर्तन और विकास के लिए राजनीति आदि की शक्ति नही वरन् एक इकाई व्यक्ति का प्रयोग होना चाहिए।

स्वतन्त्रता मनुष्य का सार है। वह अधिक से अधिक स्वतन्त्र होना चाहता है। उसमे समस्त प्रयास और उसकी सब उपलब्धियाँ इसी दिशा मे हैं। स्वतन्त्रता की तलाश मे मनुष्य ज्ञान खोजता है और ज्ञान से सत्य प्राप्त करता है। नैतिक मनुष्य ही स्वतन्त्र होता है, ज्ञान में स्थित रहता है और सत्य व्यवहार करता है।

राजनीति-दर्शन

राय देश के स्वतन्त्रता आन्दोलन मे सक्रिय भाग ले रहे थे और उन्हे जेल भी जाना पडता था। जेल में ही उन्हें विचार करने और लिखने का भी अवसर मिला था। राजनैतिक उद्देश्य से ही उन्होने विदेश यात्रा की और तत्कालीन राष्ट्र नायकों से मिले थे। उन्हे विश्व के समस्त देशों की राजनीति का ज्ञान था। उसको ध्यान मे रखकर वे भारतीय राजनीति निर्धारित कर रहे थे। कई कारणो से वे व्यावहारिक राजनीति मे सफल न हो सके। वे अपने विचारो को सक्रिय रूप देकर उनकी परीक्षा न कर सके, किन्तु उनके विचार निश्चय ही मूल्यवान और ध्यान देने योग्य है।

उनका सर्वोपरि मत है कि राजनीति की व्यवस्था मानवता के आधार पर निर्धारित होनी चाहिए और मानवता का क्षेत्र समस्त विश्व है। इसलिए समस्त देशों के मनुष्यो का हित ध्यान मे रखकर और विश्व मानवता से प्रेरित होकर किसी देश की राजनीति निर्धारित होना आवश्यक है। विश्व एक विकास क्रम से आगे बढ रहा है। भारत उसका एक अग होने के कारण उसे भी समस्त विश्व के साथ चलना चाहिए। राष्ट्रीयता का यह अर्थ नही कि हम अपने देश की स्वतन्त्रता और उन्नति के लिए समस्त विश्व की उपेक्षा कर दे या अपने देश को अन्य सब देशो से ऊपर समझने लगें।

राजनीति यदि मानवता और दर्शन पर आश्रित नही है, उसकी नीति अवसर देखकर बदली जाती है तो वह मानवता प्रधान न रहकर शक्ति प्रधान हो जाती है और उसका परिणाम भ्रष्टाचार और अन्याय होता है। राय अपनी रेडिकल पार्टी का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहते है कि हमारी पार्टी वह राजनीतिक मशीन नही है जिसमें साध्य ही साधन को न्याय्य ठहराता हो। हमारी पार्टी व्यष्टि तथा नैतिक मूल्य को सम्मानित स्थान प्रदान करती है।

इसका मूल सिद्धान्त यह है मनुष्य सभी वस्तुओं का मानदण्ड है। हम किसी समाज व्यवस्था का मूल्याकन इस आधार पर करते है कि उनमे उसके सदस्यो को कितनी स्वतन्त्रता प्राप्त है।[1]

राय को जर्मन के राष्ट्रवादी समाजवाद मे और रूस के साम्यवादी राष्ट्रवाद मे एक समान दोष दिखाई देते हैं। वे वर्तमान सभ्यता और सस्कृति के विरोधी हैं। दोनों सकुचित है और मानवता के लिए घातक है।

राय के जीवन काल मे गाधीवाद का उदय हो रहा था। उसमे उन्हे फासिस्ट-वाद दिखाई देता था। गाधी ईश्वरवादी और आध्यात्मिक दर्शन के समर्थक थे। इसलिए राय का उनसे विरोध होना स्वाभाविक था। देश की अधिकाश जनता धार्मिक अधविश्वासो पर अवलम्बित है। गांधी उनका समर्थन करते हुए उनके नेता बन गये। उनका न कोई दर्शन है न चिन्तन। उनकी लोकप्रियता का कारण अशिक्षित और अंधविश्वासी लोगो का समर्थन है। वे ईश्वर की दयालुता की घोषणा कर जनता को अन्याचार, अन्याय, विषमता, दमन और शोषण के जाल मे फँसे रखना चाहते है। गाधी पूँजीवाद की खरी आलोचना नही करते वरन् अध्यात्मवाद और ईश्वरवाद का प्रचार कर उसे प्रकारान्तर से बल प्रदान करते हैं।

गाधी सादगी और दरिद्रता का जीवन जी कर देश मे दरिद्रता को गौर-वान्वित करना चाहते है। इससे निम्न स्तर के लोगो को सन्तोष तो मिलता है किन्तु उनके हृदय मे सहज ही जलने वाली क्रान्ति की ज्वाला बुझती है। पूजी-पतियों और शासक वर्ग को अत्याचार करने का बल मिलता है। चरखा आन्दो-लन चलाकर गाधी देश को आदिकालीन सभ्यता की ओर पीछे ले जाना चाहते है। वे अति उत्पादन का विरोध कर अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो की अवहेलना करते हैं और पूंजीपतियों को मूल्य वृद्धि का लाभ पहुँचाते है।

गाधी का अहिसावाद भी हिसा को प्रोत्साहन देता है। सभी वर्ग विभक्त समाज अप्रत्यक्ष रूप से हिसा के बल पर चलते है। दलित और शोषित वर्ग को अहिसा का उपदेश हिसा सहन करने के लिए प्रेरित करता है।

इस प्रकार गाधी का दर्शन अन्तर्विरोधों से भरा है। किन्तु गाधी स्वय महान है। वे सत्य, अहिसा और देश भक्ति से परिपूर्ण है। फिर भी किसी व्यक्ति की महानता मे उसका दर्शन महान नही हो जाता है।

राय गाधी-दर्शन के तो विरोधी है किन्तु मार्क्स के विरोधी नही है वे मार्क्स के दर्शन के अनुयायी है। उनके विचार से साम्यवाद की स्थापना करने

१- न्यू ओरियन्टेशन, पृष्ठ ३७

मे मार्क्सवाद का पूरा आधार नही लिया गया। राय अपने को साम्यवाद का विरोधी किन्तु मार्क्स का अनुयायी इस अर्थ मे मानते है कि मार्क्सवाद एक विकासशील भौतिकवाद है। उसी विकास प्रक्रिया मे कुछ आगे बढकर राय का भौतिकवाद आता है। वे रेडिकल डेमोक्रेसी को वास्तविक मार्क्सवाद मानते है।

रूस मे मार्क्सवाद उसके अनुयायियो का धर्म बन गया है और साम्यवाद सर्वहारा वर्ग का सामूहिक अहं तथा यूटोपिया हो गया है। साम्यवादी समाज मे वर्ग भेद समाप्त हो जायगा और शांति स्थापित हो जायेगी। सघर्षों का प्रश्न ही न रहेगा। इसका तात्पर्य है कि ऐतिहासिक द्वन्द्वन्याय का अन्त आ जायेगा। इतिहास रुक जायगा। यह एक प्रकार की मृत्यु होगी। इसके अतिरिक्त साम्यवाद का सामूहिक अहं व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट कर देता है।

मार्क्स का अर्थ-तन्त्र भी दोषपूर्ण है। यद्यपि यह कहा जाता है कि साम्यवादी समाज में पूंजीपतियों के हाथ से पूंजी निकल कर जन साधारण के कल्याण में लगेगी। किन्तु इसके विपरीत होता यह है कि साम्यवाद मे सर्वहारा वर्ग पूंजी का स्वामी बन जाता है। इस प्रकार पूंजी के हस्तान्तरण के अतिरिक्त कुछ नही होता। उत्पादन के सभी साधनो पर राज्य का अधिकार हो जाता है और राज्य पर एक विशेष वर्ग का अधिकार स्थापित हो जाता है। इस प्रकार व्यक्तिगत सम्पत्ति का वास्तविक उन्मूलन न होकर स्थानान्तरण मात्र होता है। एक बार शासन मे कुछ व्यक्ति अधिकार पा जाते है तो उन्ही का वर्ग सदा उस पर हावी रहता है।

निष्कर्ष

इस प्रकार राय के दार्शनिक विचारों पर एक विहंगम दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि राय मूल रूप मे क्रान्तिकारी हैं। वे देश से अंग्रेजो को हटा कर जनतन्त्र की स्थापना करना चाहते है। इस उद्देश्य से उन्होंने विश्व के सभी राजतन्त्रों का अध्ययन किया और उन राजनैतिक व्यवस्थाओं का आधार खोजा। इस प्रयास मे उन्हे मार्क्सवादी दर्शन और साम्यवादी व्यवस्था सबसे अधिक उपयुक्त दिखाई दी। इसी पूर्वाग्रह पर उन्होने भौतिकवाद स्वीकार किया।

किसी राजव्यवस्था का निर्धारण करने के लिए भौतिकवाद कितना ही उपयुक्त हो और उसकी परिधि मे चाहे जितने व्यक्तियों को घसीटा जा सके किन्तु भौतिकवाद को तर्क संगत बनाना सरल नहीं है। उसके विरुद्ध जो आक्षेप किये जाते हैं उनका सम्यक उत्तर चाहिए। राय उसके उत्तर में विज्ञान के

आविष्कारो का उल्लेख कर देते है और उन्ही को पर्याप्त मान लेते है । जड़ तत्त्व से जीवन की उत्पत्ति हुई यह विज्ञान की मान्यता हो सकती है किन्तु दार्शनिक जगत मे यह तर्क द्वारा सिद्ध करना आवश्यक है कि जड तत्व और जीवन में कार्य–कारण सम्बन्ध कैसे है। इसका उत्तर खोजने मे राय को कोई उत्साह नही दिखाई देता । उन्होने नित्य आत्मा और पुनर्जन्म धारण करने वाले सूक्ष्म शरीर युक्त चैतन्य का जो खण्डन किया है वह भी बहुत सतही है । आज के युग में उन्हे बाल-बचन कहा जा सकता है ।

फिर भी राय ने राजनीति दर्शन मे बहुत चिन्तन किया है और मार्क्स के दोषों को देख–समझ कर उससे ऊपर उठने का स्तुत्य प्रयास किया है । इस क्षेत्र मे उनके चिन्तन की गहनता इसी से सिद्ध होती है कि उनके द्वारा की गयी अनेक राजनैतिक भविष्यवाणियाँ सत्य सिद्ध हुई है । नव-मानवतावाद की स्थापना का प्रयास भी उत्तम है ।

६

राहुल सांकृत्यायन का भौतिकवाद

आधुनिक भारतीय दार्शनिको मे राहुल साकृत्यायन को भी भौतिकवादी विचारकों मे रखा जा सकता है। अपने भौतिकवादी विचारो के लिए राहुल जी मार्क्स के ऋणी है। पिछले अध्याय मे वर्णित एम० एन० राय के विचारो पर भी मार्क्सवाद का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है किन्तु राय ने अपने जीवन के अन्तिम पक्ष मे मार्क्सवाद का अनुसरण छोडने का प्रयास किया। राहुल जी के विषय मे यह नहीं कहा जा सकता है कि वे अपने जीवन के किसी भी पक्ष मे मार्क्सवाद से अलग होना चाहते थे। अपनी पुस्तक 'वैज्ञानिक भौतिकवाद" मे राहुल जी कदम-कदम पर मार्क्स, ऐंगेल्स एवं लेनिन के विचारो को उद्धृत ही नही करते वरन् उनमे आस्था व्यक्त करते है। प्रत्येक दृष्टिकोण से इन दार्शनिको के विचारों को सही सिद्ध करने का भी प्रयास करते है। प्रारम्भ मे ही यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि राहुल जी मार्क्स के वैज्ञानिक भौतिकवाद का ही समर्थन करते है तो उन्हे आधुनिक भारत के मौलिक विचारको मे नही रखा जा सकता। इस सदर्भ मे प्रस्तुत लेखक का मत है कि श्री राहुल ने वैज्ञानिक भौतिकवाद को एक विस्तृत भारतीय परिपेक्ष्य मे रख कर समझने का प्रयास किया है। यद्यपि वे प्रत्येक भारतीय दर्शन मे भौतिकवादी प्रवृत्तियों को ढूढने का प्रयास नही करते किन्तु फिर भी वे यह मानते है कि भारत के पिछड़ेपन का एक मुख्य कारण भारत की जनता के नुमाइन्दों की प्रत्ययवादी विचारधारा मे गहन आस्था है। वे प्रत्येक स्थान पर अध्यात्मवादी विचारधारा के दोषो को उजागर करते नही थकते है। वे भौतिकवाद को ही एक समुचित दर्शन मानते हैं अतः उन्हे निसकोच रूप से भौतिकवादी माना जा सकता है। स्वयं राहुल जी अपने को वैज्ञानिक भौतिकवाद का एक पैगम्बर मात्र कहते है।[१]

भौतिकवाद की व्याख्या करते हुए श्री राहुल कहते है कि " यह वह दार्शनिकवाद है जो कि कल्पना, विचार, ज्ञान को मानव चेतना (मस्तिष्क)

१- वैज्ञानिक भौतिकवाद पृष्ठ, २३

पर एक ऐसे वास्तविक भौतिक जगत का मानसिक प्रतिबिंब मानता है, जिसकी सत्ता हमारी चेतना या इच्छा से बिल्कुल स्वतन्त्र है।"[1] इस व्याख्या से यह सिद्ध होता है कि श्री राहुल के लिए यह विश्व अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। मनुष्य इसे वैसा ही जानता है जैसा वह है। हमारे जानने की प्रक्रिया इसमे कुछ भी परिवर्तन नही करती। राहुल जी भौतिकवाद के विरोधियो का उत्तर देते हुए कहते है कि इन विचारको ने दोषपूर्ण ढंग से भौतिकवाद को खाने, पीने दुराचार को बढावा देने वाली पद्धति के रूप मे देखा। इन विरोधियों की दृष्टि में "भौतिकवादी परम पामर, स्वार्थी, लोलुप मनुष्य रूप मे मृग है।"[2] इसके विपरीत श्री राहुल उन साम्यवादी दार्शनिको से सहमत है जो मानते है कि भौतिकवाद मनुष्य को सच्चे अर्थ मे मानवीय बनाता है। भौतिकवाद व्यक्तिगत स्वार्थ को समाज के हित मे जोडता है। सामाजिक हित के लिए भौतिकवादी विचारक अपने प्राणों का उत्सर्ग हंसकर करते हैं। इस सन्दर्भ मे राहुल जी ने फेन्च कम्यूनिस्ट गब्रील पेरी के शब्दो को उद्धृत किया है। गब्रील पेरी लिखते है कि "मेरे देशवासी जाने कि मैं इसलिए मर रहा हूँ जिससे कि फ्रांस जीता रहे ...।[3]"

अब प्रश्न यह है कि भौतिकवाद जडत्व को ही अन्तिम अस्तित्व मानता है और किसी भी प्रकार के अतिभौतिक अस्तित्व को अस्वीकार करता है तो यह जड़ तत्त्व क्या है? इसका स्वरूप क्या है? श्री राहुल जड़ तत्त्व को भूत कहते है और उसके स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहते है कि "जो कुछ हम अपनी इन्द्रियो से देखते–समझते (इन्द्रिय–गोचर) है, जो कुछ इन्द्रियगोचर वस्तुओं का मूल रूप है, जो देश (लम्बाई, चौड़ाई, मुटाई) मे फैला हुआ है जो कम या बेशी मात्रा में दबाव की रोकथाम करता है, जिसमें इन्द्रियों से जानने लायक गति पायी जाती है वह भूत।"[4] इस सन्दर्भ में राहुल जी दो भिन्न मतों का उल्लेख करते है। प्रथम मत इगलैड के दार्शनिक लाक का है। लाक के अनुसार परिमाण (लम्बाई, चौडाई, मुटाई तथा भार) के रूप मे ही जड़ तत्त्व का जो स्वरूप हमे प्राप्त होता है वही वास्तविक है। गुणों के रूप मे इन्द्रिय गोचर होने वाला जड़ तत्त्व का स्वरूप वास्तविक नही है। इसके विपरीत दूसरा मत वैशेषिक दर्शन में उपलब्ध होता है। इसके अनुसार गुणों के द्वारा जड़ तत्त्व का जो स्वरूप हमें इन्द्रिय गोचर होता है वही सत्य है। इन दोनो

१- वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ०, १२५

२- वही, पृ० १२६

३- वही पृ०, १३०

४ वही पृ०, ११६

विचारों के सम्बन्ध में राहुल जी का मानना है कि गुणों की वास्तविकता मानने के कारण ही वैशेषिक दर्शन का पदार्थ विज्ञान नहीं बन सका जबकि विस्तार तथा भार को भूत का वास्तविक स्वरूप मानने वाली यूरोपीय विचार परम्परा नित्य नव-विकास वाले आधुनिक साइंस के रूप मे परिणत हो गयी।"[१] श्री राहुल जड़तत्त्व मे गुणो और परिमाण दोनो को मानते है। उनके अनुसार ये दोनों ही जड़ तत्व का स्वरूप निर्मित करते है।

एक सच्चे भौतिकवादी की तरह राहुल देश एव काल की भी भौतिकवादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वे देश-काल को कान्ट की तरह मानसिक तत्व नही मानते और न अद्वैत वेदान्तियो की भाँति उनको असत्य ही घोषित करते है। श्री राहुल इन दोनो को ही सत्य मानते है किन्तु भौतिक तत्व से स्वतन्त्र उनका अस्तित्व नहीं मानते। उनके अनुसार देश, काल भौतिक तत्व के ही दो पहलू है।[२] देश, काल भौतिक तत्व से कभी भी अलग नही रहते। श्री राहुल लिखते है कि "जैसे गिनती प्रकृति के यहाँ उस तरह नही मिलती जैसी कि हमारी गणित की पुस्तको मे, उसी तरह देश, काल भी द्वन्द्वात्मक प्रकृति (भूत, गति) से अलग कोई हस्ती नही रखते।"[३]

राहुल जी अपने भौतिकवादी विचारों के लिए बौद्धों, हेराक्लितु और आधुनिक विज्ञान की खोजो से प्रभावित है। वे कुछ प्राचीन भौतिकवादियो की तरह भौतिक पदार्थों को स्थिर नही मानते। वे मानते है कि सभी वस्तुये क्षणिक हैं, परिवर्तनशील है, प्रवाहमय है। वे ससार की किसी भी वस्तु को 'है' की अवस्था में न मानकर 'भवति' की अवस्था मे स्वीकार करते हैं। श्री राहुल स्वय लिखते है कि "हमारी बहुत सी दिक्कतें गलतफहमियाँ दूर हो जाय यदि हम 'अस्ति' का बायकाट कर हर जगह 'भवति' का प्रयोग करे।"[४] उनके अनुसार जिसे हम वस्तु कहते है, वह एक तरंग प्रवाह मात्र है। इसीलिए श्री राहुल मानते है कि विश्व वस्तुओं का समूह न होकर घटनाओ का समूह मात्र है। वे मानते है कि पीपल के एक पत्ते मे भी यह प्रवाह चल रहा है। इस प्रवाह को हमारी नंगी आँखे ग्रहण नही कर पाती उसे हम वैज्ञानिक यन्त्रो से देख सकते हैं। तब यह प्रश्न उठता है कि यदि विश्व की समस्त वस्तुयें प्रवाह मात्र हैं तो इस प्रवाह की जनक गति कहाँ से आती है? उसका स्वरूप क्या है? फ्रांस का आधुनिक दार्शनिक देकार्त इस विश्व मे उपलब्ध गति को ईश्वर

१- वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृष्ठ, १२०

२- वही, पृष्ठ १८

३- वही, पृष्ठ, १८

४ वही पृष्ठ १३८

प्रदत्त मानता है। वह स्वीकार करता है कि जितनी गति ईश्वर ने विश्व को दी है उतनी गति के सहारे ही यह विश्व चल रहा है। ईश्वर प्रदत्त उस गति का कभी नाश नही होता। उसका केवल रूप ही बदलता है। इस प्रकार देकार्त गति को मूलत: भौतिक तत्व पर निर्भर नही मानता। इस सन्दर्भ मे श्री राहुल मार्क्सवाद के अनुयायी है। वे गति को भौतिक तत्व का ही एक रूप मानते है। गति भौतिकतत्व मे ही निहित है। श्री राहुल लिखते है "गति भूत के (अपने) अस्तित्व (रहने) का स्वरूप है। बिना गति के न भूत कभी था और न कभी रहेगा .... सभी (तरह का) विश्राम, सभी साम्यावस्था सिर्फ सापेक्ष है और उसे गति के प्रकारो मे से किसी एक की अपेक्षा से ही समझा जा सकता है।"[1] भूत के विभिन्न रूपों की भाँति ही गति के भी विभिन्न रूप हैं।

श्री राहुल विश्व को विच्छेदयुक्त प्रवाह मानते है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विश्व की रूपरेखा" मे वे भौतिक तत्व के सूक्ष्मतम अश एलेक्ट्रान में भी एकदेशीयता और प्रवाह दोनों के गुण मानते है। वे एलेक्ट्रान को परिच्छिन्न-विच्छिन्न प्रवाह मानते है।[2] इस विच्छेद युक्त प्रवाह को गणित के उदाहरण से भली प्रकार समझा जा सकता है। अको मे हम एक ओर १, २, ३, का प्रवाह पाते है वहीं दूसरी ओर १ से २ और २ से ३ मे कुदान विच्छेद को भी पाते है। श्री राहुल के मत मे यदि प्रकृति मे यह विच्छेदयुक्त प्रवाह न होता तो वह निर्जीव एवं विचित्रता से रहित होती।[3]

श्री राहुल भौतिकवाद के विभिन्न प्रकारो का उल्लेख करते है। वे सर्व प्रथम पुराण भौतिकवाद की व्याख्या करते है। चार्वाक इस प्रकार के भौतिकवाद का प्रतिपादन करते है। इसमे भौतिक पदार्थ को परमाणुओं का सयोग और प्रत्यक्ष को ज्ञान का एक मात्र साधन माना जाता है। इन दार्शनिको के लिऐ केवल मस्तिष्क की शक्तियो द्वारा उपलब्ध ज्ञान सत् नहीं हो सकता। मस्तिष्क की शक्तियो द्वारा उपलब्ध ज्ञान उसी अनुपात में सत् होगा जितने मे उसे प्रत्यक्ष की सहायता प्राप्त होगी। केवल प्रत्यक्ष द्वारा प्राप्त ज्ञान ही प्रामाणिक है। दूसरे प्रकार के भौतिकवाद को श्री राहुल ईश्वर–यान्त्रिक भौतिकवाद कहते है। इस प्रकार के भौतिकवाद के जनक देकार्त जैसे ईश्वर मे विश्वास रखने वाले दार्शनिक है। यह लोग विश्व को एक घड़ी और ईश्वर को उस घडी मे चाबी लगाने वाला यन्त्री बतलाते है। वह ईश्वर इस घड़ी रूपी विश्व मे प्रलय तक के लिये चाबी लगा देता है और यह विश्व तत्पश्चात बिना ईश्वर की सहायता

१- विश्व की रूपरेखा, पृष्ठ ८६
२- वही पृष्ठ ८६
वही पृष्ठ, १४४

से चलता रहता है। तीसरे प्रकार के भौतिकवाद को श्री राहुल यान्त्रिक भौतिकवाद कहते है। यह सत्रहवीं–अठारहवीं शताब्दी की देन है। इस प्रकार के भौतिकवाद में ईश्वर को कोई स्थान नही दिया गया। मनस् भौतिकतत्त्व का ही एक रूप है। जिस प्रकार घडी पुर्जों का एक योग है उसी प्रकार मनस् भी भौतिक तत्त्वों का योग मात्र है। इन दार्शनिकों ने भौतिकतत्त्व मे गुणात्मक परिवर्तन नहीं स्वीकार किये। श्री राहुल के अनुसार इस प्रकार के भौतिकवाद की मुख्य त्रुटि यह है कि इसमे किसी 'विच्छेदयुक्त प्रवाह'' को स्थान नही था। इसी कारण यह भौतिकवाद विश्व की समुचित व्याख्या करने में असमर्थ रहा और क्राति वाहक बनने मे भी असफल हुआ।

वैज्ञानिक भौतिकवाद को राहुल उपर्युक्त भौतिकवाद के प्रकारो से भिन्न मानते है। वैज्ञानिक भौतिकवाद मे यान्त्रिक भौतिकवाद की भौतिकता और हेगेल के दर्शन का द्वन्द्ववाद सम्मिलित है। इस प्रकार के भौतिकवाद को भी राहुल भौतिकवादी विचारधारा का उच्चतम विकास मानते है।[२] इस भौतिकवाद मे प्राकृतिक विश्व को विकसित होते, स्वरूप परिवर्तन के निरन्तर घटना प्रवाह के रूप मे स्वीकार किया जाता है।[३] यह क्राति का जनक सिद्ध हुआ है।

जीवन एवं मनस् की उत्पत्ति

श्री राहुल भौतिकवादी होते हुए भी जीवन एव मनस् को भौतिक तत्त्व नही मानते। वे मानते है कि भौतिक प्रकृति में गुणात्मक परिवर्तन होते है। प्रकृति के इन गुणात्मक परिवर्तनो का परिणाम जीवन अथवा चेतना है। इसका तात्पर्य यह है कि जीवन भौतिकतत्त्व से ही उत्पन्न होता है किन्तु उसे भौतिक तत्व नही कह सकते। श्री राहुल गुणात्मक परिवर्तन का तात्पर्य "उससे किन्तु वही नहीं"[४] मानते है। श्री राहुल लिखते हैं कि "यह सच है जीवन या मन जिससे पैदा हुआ है, वह भूत (भौतिकतत्व) ही है, किन्तु मन भूत हरगिज नही है ... यह बिल्कुल गुणात्मक परिवर्तन पूर्व (भूत) प्रवाह से टूटकर नया प्रवाह है। अण्डे और चूजे का उदाहरण देकर श्री राहुल भौतिकतत्व से जीवन की उत्पत्ति सिद्ध करते हैं।[५] जिस प्रकार अण्डे में भरे तरल भौतिक तत्व मे

१- वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृष्ठ, ३९

२- वही पृष्ठ १४८

३- वही।

४- वही पृष्ठ, १७७

५- वही पृष्ठ २७८

गुणात्मक परिवर्तन के कारण कुछ दिन पश्चात चूजा बन जाता है अथवा उस तरल पदार्थ से चूजे की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार भौतिक तत्व से चेतना अथवा जीवन की उत्पत्ति समझी जा सकती है। वे मानते हैं कि इस भौतिक प्रकृति मे गुणात्मक परिवर्तन की अद्भुत शक्ति है। इसीलिए यदि हम जीवन को कही बाहर से आई वस्तु मानते हैं तो इस प्रकृति को उसके जन्मसिद्ध अधिकार से वचित करते है।

राहुल जी मनस् को कोई खास तत्व नही मानते। मस्तिष्क की चिन्तन स्मरण इत्यादि की शक्ति को ही वे मनस् कहते है। मनस् साधारण जीवन का उच्चतर विकास है। इसका तात्पर्य यह है कि मनस् मस्तिष्क से भिन्न कोई द्रव्य नही है। वह एक घटना–प्रवाह है। मनस् का जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध है। जहाँ मन है, वहाँ जीवन अवश्य है किन्तु इसका उलटा ठीक नही हैं अर्थात हम यह नही कह सकते कि जहाँ जीवन है वहाँ मनस् अवश्य है। श्री राहुल मानते है कि मनुष्य का शरीर असख्य सजीव सेलों का सघात है। इनमे से कोई भी सेल अकेले मनस् को उत्पन्न नही कर सकता किन्तु गुणात्मक परिवर्तन के कारण उसी सघात में चिन्तन स्मरण की शक्ति पैदा हो जाती है। यही मनस् है। राहुल मानते है कि जिस प्रकार कमल के रूप, गन्ध इत्यादि को देखकर उसे पंक से उत्पन्न न मानना पंक के प्रति अन्याय है उसी प्रकार मनस् को शरीर के सेलो से उत्पन्न न मानकर उसे बाहर से आयात करना शरीर के प्रति अन्याय करना है। इस प्रकृति मे विद्यमान भिन्न–भिन्न तत्त्व मिलकर एक सर्वथा भिन्न तत्त्व को जन्म देने में समर्थ हैं। मनस् इसी प्रक्रिया का परिणाम है।

जीव की अमरता

राहुल जी शरीर से भिन्न किसी आत्मा अथवा जीव का अस्तित्व स्वीकार नही करते। बहुत से उदाहरण देकर वे सिद्ध करते है कि आत्मा की अमरता मे विश्वास करना अंधविश्वास के कारण ही होता है। वे कहते है कि कतिपय सभ्यताओ (मिश्र) में शरीर के रूप मे ही आत्मा को सुरक्षित रखने को उसकी अमरता को समझा गया[1] क्योकि वे लोग आत्मा को शरीर से अलग रखकर नही समझते थे। श्री राहुल विश्वास करते है कि भारत के सामन्त शासको ने अपनी प्रभुता को कायम रखने के लिए परलोक एवं पुनर्जन्म के फदे को तैयार किया। इस फंदे को उपनिषदो के ऋषियो ने मजबूत किया। वे स्पष्ट रूप से कहते है कि जो धर्म आत्मा की नित्यता मे विश्वास करते है उन सबका उद्देश्य एक ही है और वह यह है कि सामाजिक अन्याय से लोगो का ध्यान हटाना और

१- वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृष्ठ. ६३

वर्ग भेद को जीवित रखना है। इसी प्रकार श्री राहुल विश्व से भिन्न किसी ईश्वर रूपी अस्तित्व मे विश्वास नही करते। वे दूसरे विश्व युद्ध की दर्दनाक घटनाओ की ओर इंगित करते हुए कहते है कि यदि कोई ईश्वर होता तो जो मार-काट मची है वह न होती। श्री राहुल लिखते है कि " युद्ध में जो कुछ बीत रहा है उसे देखते रहने वाल ईश्वर या तो नितान्त क्रूर है, अथवा बेबस, और ऐसे ईश्वर को मानने, उसकी स्तुति करने से उसकी ओर मुँह भी न फेरना अच्छा है।[1] राहुल जी ईश्वर को सिद्ध करने वाले कार्य—कारण तर्क की आलोचना करते है। वे कहते हैं कि हर कार्य के पीछे कारण ढूढने वाले विचारक एक उच्चतम कारण ईश्वर पर पहुँचते हैं। और जब उन विचारको से ईश्वर का कारण पूछो तो वे कुछ न कुछ तार्किक बहाना खोज निकालते है। वास्तविकता यह है कि कोई कार्य किसी एक कारण की उपज नही है। प्रत्येक कार्य के पीछे एक कारण समुदाय होता है। अतः कार्य-कारण सम्बन्धी तर्क हमे किसी एक कारण पर नही ले जाता वरन् कारण समुदाय तक पहुँचाता है। श्री राहुल का मत है कि ईश्वर को सिद्ध करने वाले धर्मावलम्बी स्वार्थ वृत्ति से प्रेरित होकर साधारण जन समुदाय को धोखा देने के लिए ईश्वर की स्थापना करते है। उनकी करनी एव कथनी मे भेद होता है।

नैतिक विचार

श्री राहुल नैतिकता की कसौटी के रूप मे सामाजिक हित को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार नैतिक आचरण वही है जिससे समाज का हित हो। नैतिकता का आधार बहुजन सुखाय बहुजन हिताय होना चाहिए। समाज का सुख व्यक्ति के सुख से ऊपर है। और क्योकि समाज की संरचना मान्यताये और उद्देश्य परिवर्तित होते रहते हैं, इसीलिए नैतिकता शाश्वत नही हो सकती। श्री राहुल किसी निरपेक्ष नैतिक मूल्य में विश्वास नही करते है। प्राचीन भारत में यौन सदाचार [2] का उल्लेख करते हुए कहते है कि जिस प्रकार के यौन सम्बन्धों को महाभारत काल मे उचित समझा जाता था आज उन्हें हम नैतिक मानने मे संकोच करेंगे। इस सम्बन्ध मे उन्होने शर्मिष्टा और ययाति, उत्तक एवं उनकी गुरु—स्त्री, पराशर और सत्यवती इत्यादि के यौन सम्बन्धो का उल्लेख किया है। श्री राहुल मानते हैं कि यौन सदाचार ही नहीं वरन् सभी प्रकार के सदाचार में परिवर्तन होता रहा है। देशकालानुसार परिवर्तन-

---

१- वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृष्ठ, ६०

२ वही पृष्ठ ६८ ६६

शील आचार श्रेष्ठ है।[1] समाज के हित के दृष्टिकोण से ही हम नैतिक मूल्यो को मान्यता देते है। नैतिक मूल्यो के सृजन मे किसी ईश्वर की आवश्यकता नही है। जो विचारक ईश्वर का भय दिखलाकर नैतिकता का उपदेश करते है वे स्वार्थ सिद्धि से प्रेरित होते हैं। वे अपने स्वार्थ के लिए समाज के हित की चिन्ता नही करते। श्री राहुल उन लोगो का विरोध करते है जो कहते है कि भौतिकवादी किसी सदाचार को नही मानते। वे कहते है कि वे दिन चले गये, जब भौतिक वादियो को दुराचारी कहा जाता रहा। हाँ, भौतिकवादियो का सदाचार अध्यात्म-वादियो से इस अर्थ मे भिन्न है कि अध्यात्मवादी व्यक्तिगत स्वार्थ के पोषक हैं जब कि भौतिकवादी समाज के हित को ही अपना परम प्रातव्य मानते है। समाज के हित के लिए हसते हुए मृत्यु का वरण करने वाले भौतिकवादियो को दुराचारी कहने वाले नर-पशु ही हो सकते है।

धर्म सम्बन्धी विचार

राहुल के अनुसार धर्म का सार है अलौकिक शक्ति मे विश्वास।[2] यह शक्ति एक भी हो सकती है और अनेक भी। इस अलौकिक शक्ति को सर राधा-कृष्णन एव गांधी जैसे विचारक सत्य, शिव, सुन्दरम् के रूप मे भी स्वीकार करते है। श्री राहुल कहते है कि शक्ति की यह मान्यता किसी दूसरी दुनिया से नही टपकी वरन् इसकी उत्पत्ति उस समय के समाज के आर्थिक ढाँचे से हुई है। एक समय ऐसा था जब परिवार मे पिता या माता को ही पारिवारिक मामलो के लिए सर्वोच्च निर्णायक माना जाता था। वे परिवार के आर्थिक ढाँचे को नियन्त्रित करते थे और सभी के हितों की रक्षा करते थे। अतः उनके जीवन मे ही परिवार के अन्य सदस्य अपने को उनसे निर्बल समझने लगते थे। उनके मरने के पश्चात उनकी आत्माओं की प्रथा चल पड़ी और इसी प्रकार समाज मे एक सर्वशक्तिमान व्यक्तित्व के विचार ने स्थान बना लिया। राहुल स्पष्ट लिखते हैं कि "धर्म का आरम्भ मानव के जीविकोपादानार्थ समाज बना लेने, तथा भाषा के कुछ विकसित हो जाने पर हुआ और इसका पूरा विकास दासता युग तथा सामन्त युग के समय प्रभुवर्ग ने किया।"[3] फवेरबाख[4] तथा वोल्तेर जैसे विद्वानों के कथनो को उद्धृत करके श्री राहुल ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि धर्म मानव को अपने से विलग करता है। धर्म के नाम पर साधारण मनुष्य को छला जाता है। श्री राहुल के शब्दों मे "सभी देशो का

१- वही पृ०, १०३

२- वही पृ० ७५

३- वही पृ० ६१

४ वही पृ० ५६ ५७

इतिहास और भारत का खास तौर से इस बात का साक्षी है कि धर्म से बढ़कर मनुष्य को पतित, दास, उपेक्षित, घृणास्पद बनाने वाला दूसरा कारण नहीं हो सकता। भारतीय मानवता को छिन्न - भिन्न करने मे सबसे जबर्दस्त हाथ धर्म का रहा है।[1]

मनुष्य का विकास

श्री राहुल मनुष्य को ईश्वर की रचना के रूप मे स्वीकार नही करते है। जीवन और मनस् को भौतिक तत्वों की उत्पत्ति और मनुष्य को विकास का परिणाम मानते है। ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य के विकास की व्याख्या मे वे डारविन एवं लेमार्क के विकासवाद से प्रभावित है। श्री राहुल मानते है कि प्रारम्भ मे पृथवी एक दहकते हुए गैस के गोले के समान थी। इस गोले मे अणु बिखरे हुए थे। कुछ काल पश्चात अणु एक दूसरे के नजदीक आये जिससे सर्व प्रथम अणु-गुच्छक, वाइरस एवं बैक्टीरिया का जन्म हुआ।[2] इस प्रक्रिया मे एक सेल के जीवधारी अमीवा का अस्तित्व सामने आया। बीस लाख वर्ष की अवधि में इस विकास प्रक्रिया मे स्थावर वनस्पति, जगम प्राणी, मछलियो, स्तनधारी जीव, वनमानुष एवं जाति परिवर्तन के फलस्वरूप मानव वंश के पूर्वजों को जन्म दिया।[3] इसी प्रक्रिया के अन्तर्गत आज से पाच लाख वर्ष पूर्व सोचने विचारने वाले मानव का प्रादुर्भाव हुआ। श्री राहुल के अनुसार आज जिस रूप मे मनुष्य विद्यमान है वह किसी न किसी प्रकार के श्रम का परिणाम है। ऐसा मानकर वे एक सच्चे मार्क्सवादी होने का परिचय देते हैं। श्रम ने ही मनुष्य की शरीर में वे अंग प्रदान किये है जिनके कारण वह पशुओं से भिन्न है। पशु और मानव मे भेद दिखलाते हुए राहुल जी कहते है कि कुछ सोचने की क्षमता तो वनमानुप एवं कुत्ते जैसे प्राणियों मे भी होती है[4] किन्तु इन सभी का सोचना वर्तमान से ही सम्बन्धित होता है जबकि मनुष्य भविष्य के सम्बन्ध मे भी सोचता है। पशु अपने वर्तमान अस्तित्व को कायम रखने के लिए जन्मजात विकास का इस्तेमाल करके प्रकृति से संघर्ष करता है किन्तु मनुष्य वर्तमान मे अस्तित्व बनाये रखने के अतिरिक्त भविष्य मे अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए विभिन्न प्रकार

१- वही पृष्ठ, ५६

२- मानव–समाज, पृष्ठ 1

३- वही

४ विश्व की रूपरेखा पृष्ठ ३२८ ३२

हथियारो का आविष्कार करता है ।[१] मनुष्य प्रकृति से भिन्न नहीं है । वह प्रकृति के निम्न एवं उच्च अंशो की उपज है । मनुष्य प्रकृति का वयस्क पुत्र है ।[२] मनुष्य और पशु में भेद का मुख्य कारण मनुष्य का विकसित मस्तिष्क है । यह मस्तिष्क ही उसे सोचने विश्लेषण करने, नया रास्ता ढूढ़ने और पुराने अनुभवों से शिक्षा ग्रहण करने के योग्य बनाता है । निम्न जातियो से वनमानुष और वनमानुस से मनुष्य जाति के विकसित होने में राहुल जाति परिवर्तन की घटना को महत्व देते है । जाति परिवर्तन के कारण ही वर्तमान पीढी से अगली पीढ़ी उत्पन्न होती है ।[३]

समाज का विकास

श्री राहुल समाज के अस्तित्व में आने का मुख्य कारण मनुष्य की श्रम शक्ति को मानते है । उनके अनुसार जब जीवधारियो के विभिन्न अंगो मे हाथ का विकास हुआ तो हाथ की श्रम-शक्ति के कारण उसका प्रकृति पर प्रभुत्व बढा । हाथ के श्रम से ही मनुष्य ने प्राकृतिक वस्तुओं के नये–नये उपयोग खोज निकाले । श्रम के बढ़ने से वस्तुओं के अर्जन मे वृद्धि हुई और उनका उपयोग भी बढ़ा । इस अर्जन और उपयोग के लिए मनुष्य को अन्य मनुष्यों की सहायता की आवश्यकता हुई । इस आवश्यकता ने अन्य मनुष्यों का सहयोग प्राप्त किया और इस आपसी सहयोग के कारण ही समाज का अस्तित्व सामने आया । इस प्रकार श्री राहुल के अनुसार समाज मनुष्य को बना बनाया नही प्राप्त हुआ वरन् भोग उत्पादन के लिए सहयोगी श्रम और अपनी रक्षा के लिए सहयोगपूर्ण संघर्ष ने ही समाज को जन्म दिया ।[४] अत. यह कहा जा सकता है कि समाज व्यक्तियों का वह संगठन है जिसमे क्रियाये एक दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करती हैं । जब विभिन्न व्यक्ति एक दूसरे की क्रिया से प्रभावित होते हैं, तब समाज की उत्पत्ति होती है। इस सम्बन्ध में श्री राहुल एक बात और स्पष्ट करते हैं और वह यह है कि "समाज व्यक्तियों के योग से बना है, किन्तु वह व्यक्तियो का योग योग मात्र नही ।[५] वे स्पष्ट करते हैं कि परिमाण अथवा मात्रा गुण को उत्पन्न

१- मानव समाज, पृष्ठ, ११

२- वही पृष्ठ १२

३- विश्व की रूपरेखा, पृष्ठ, ३१५–१६

४- मानव समाज, पृष्ठ, ३

५- वही पृष्ठ १३

करती है ।[1] समाज व्यक्तियों के योग मात्र से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार घड़ी पुर्जों के योग मात्र से । श्री राहुल के शब्दों में "समाज मनुष्य+मनुष्य नहीं है, बल्कि समाज मनुष्य × मनुष्य है ।"[2] इस प्रकार हम देखते है कि श्री राहुल मनुष्य एवं समाज की उत्पत्ति मे किसी अलौकिक शक्ति के कार्य को स्थान नहीं देते । वे अपनी आस्था के अनुरूप ही इन दोनो को विकास का परिणाम सिद्ध करते हैं ।

१- विश्व की रूपरेखा, पृष्ठ, ३२५

२- मानव-समाज, पृष्ठ, १३

७

पश्चिमी भौतिकवाद का उद्भव और विकास

पश्चिम मे दार्शनिक चिन्तन का प्रारम्भ यूनान मे ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व माना जाता है। उसके पूर्व वहाँ देवी-देवताओं की कल्पना की जाती थी जो जगत की रचना और संचालन करते है। थेल्स या थेलीज ने सर्व प्रथम अपने बुद्धि के बल और तर्क का सहारा लेकर जगत की व्याख्या करने का प्रयास किया। इसलिए वह पश्चिम मे दर्शन का जनक माना जाता है। उसने यह मानना अस्वीकार कर दिया कि कोई अप्राकृत शक्ति इस प्राकृत जगत की स्वच्छन्द नियामक है।

थेल्स जगत की समस्त वस्तुओ का एक मूल कारण खोजते हुए पानी पर पहुँचा और उसी से उसने पृथ्वी आदि समस्त वस्तुओ की उत्पत्ति स्वीकार की। उसने वस्तु और गति का भेद नही किया। उसके विचार से जल मे ऐसी शक्ति है जो उसे अन्य पदार्थों के रूप मे परिवर्तित कर सकती है। थेल्स समझता था कि पृथ्वी एक गोल चपटी वस्तु है जो जल पर तैर रही है। सभवत: उसे पृथ्वी के सम्पूर्ण विस्तार का ज्ञान न होगा। वह केवल यूनान की भूमि को ही सम्पूर्ण पृथ्वी समझता होगा।

थेल्स के इन विचारों से ज्ञात होता है कि दर्शन का प्रारम्भ भौतिकवाद से हुआ और भौतिक जगत का कारण भी भौतिक ही माना।[1] वह कारण भी दृष्ट पदार्थ ही था। दृष्ट पदार्थ का कोई अदृष्ट भौतिक पदार्थ कारण नही माना गया। थेल्स को दर्शन का पिता इसलिए नही कहते कि उसने कोई व्यस्थित दर्शन पद्धति दी है, वरन् उसका कारण यह है कि उसने सबसे पहले दार्शनिक प्रश्न उठाया।

थेल्स के शिष्य एनेक्जिमेण्डर (६११-५४७ ई० पू०) ने इस विषय पर अधिक विचार किया और उसने 'प्रकृति पर' एक पुस्तक भी लिखी जो दुर्भाग्य से

1. W. T Stace, C H G P, Page 23

नष्ट हो गई। उसने जल को मूल तत्व नही माना। जल भी प्रकृति की एक उत्पत्ति है। जल, पृथ्वी आदि सभी वस्तुये जिस तत्व से उत्पन्न हुई वह तत्व निश्चय ही भौतिक है, किन्तु वह गुण, रूप और आकार रहित एक ऐसा तत्व है जिसने कोई विशिष्टता धारण नही की है। इसीलिए तो वह रूप-गुण आदि धारण कर विभिन्न पदार्थों की स्थिति में आ सका है। वह भौतिक तत्व निर्विशेष होने के कारण अनन्त भी है। इसीलिए अब तक अगणित ससार बने किन्तु वह तत्व व्यय नही हुआ।

एनेक्जिमेडर परम्परा के अनुसार मानता था कि जगत की रचना अनेक बार हुई और उसका विनाश भी हुआ। यदि विनष्ट होकर जगत अपने मूल रूप निर्विशेष भौतिक तत्व मे पहुँच जाता है, तो उसी से नये जगत की पुनः रचना हो सकती है। उस तत्व के व्यय होने का प्रश्न नही उठता। इसलिए बर्नेट के मतानुसार अनेक जगतो की रचना कालगत क्रम मे नही हुई वरन् एक ही समय मे अनेक जगतो की रचना हुई और वे सब जगत बनते चले गये फिर भी अनन्त निर्विशेष तत्व व्यय नही हुआ। बर्नेट की यह व्याख्या एनेक्जिमेडर को अधिक तर्कसगत बना देती है।[1]

एनेक्जिमेडर यह नही बता पाता कि निर्विशेष भौतिक तत्व से जगत की सब वस्तुये कैसे और क्यो बनी। वह इतना जानता है कि उस मूल तत्व मे विभाजन हुआ और गर्म तथा ठण्डे दो भाग बन गये। ठण्डा भाग तरल था। उसी से पृथ्वी बनी। उसके आसपास गर्म तत्व था। उसकी गर्मी से पृथ्वी का जल सूखा। भाप बना जल ही वायु हो गया। एनेक्जिमेडर भाप और वायु मे भेद नही करता। उसके विचार से पृथ्वी बेलनाकार है और उसके ऊपरी भाग पर मनुष्य वास करते है।

एनेक्जिमेडर के अनुसार जीवन की उत्पत्ति ताप और नमी से हुई। प्रारम्भिक प्राणी बहुत साधारण था। प्रकृति की अनुकूलता पाने पर उसमे विकास हुआ। जल मे उत्पन्न हुई मछली भूमि पर आकर पशु बनी और फिर मनुष्य बन गयी। इस विचार मे आधुनिक विकासवादी सिद्धान्त के मूल सूत्र मिलते हैं। यद्यपि ये विचार स्पष्ट रूप से भौतिकवादी है किन्तु इन्द्रिय प्रत्यक्ष के पार जाने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है। अनेक सिद्धान्त प्रचलित काल्पनिक मान्यताओ के आधार पर बना लिये गये हैं।

इस चिन्तन की परम्परा का विकास एनेक्जिमेनीज ने किया। वह भी अपने पूर्वगामियों के अनुसार जगत का मूल कारण एक भौतिक तत्व मानता था, किन्तु

१. जान बर्नेट, ग्रीक दर्शन, पृष्ठ २४

सके मत मे वह तत्व निर्विशेष द्रव्य नही है। उसने थेल्स की भाँति जगत का कारण एक सविशेष तत्व माना और वह तत्व है वायु। उसके विचार से वायु मे ताप, धुंध और अंधकार भी सम्मिलित है।

वायु में दार्शनिक दृष्टि से दो गुण है। एक तो वह असीमित है और दूसरे उसमे निरन्तर गति रहती है। इसी गति मे वह कभी विरल होती है और कभी घन। इन दोनो प्रक्रियाओ से वायु बादल बन कर जल, पृथ्वी और चट्टान बन जाती है। प्रलय होने पर समस्त जगत वायु में पुनः परिणित हो जाता है। पृथ्वी एक चपटी तश्तरी की भाँति है और वह हवा मे तैर रही है। वायु ही जीवन है, क्योंकि बिना श्वास लिए हम जीवित नही रह सकते।

इस प्रकार एनेक्जिमेनीज इन्द्रियातीत कल्पित वस्तु से बचाकर दर्शन को पुनः सविशेष भौतिक वस्तु पर लाये और उसमें सरल-विरल की प्रक्रिया दिखाकर जगत की रचना को तर्क संगत बनाने का प्रयास किया।

पाइथागोरस (५८०-४४० ई० पू०) सम्भवतः उसका शिष्य या अनुयायी था, किन्तु मूल रूप मे वह गणितज्ञ और धार्मिक पुरुष होने के कारण उसने ससार का मूल कारण संख्या माना। उसके विचार से सख्या ही एक ऐसा सर्व विद्यमान तत्व है जिससे समस्त जड़-चेतन जगत की उत्पत्ति हुई है। उत्पन्न हुई समस्त वस्तुओं के विनाश की कल्पना की जा सकती है किन्तु संख्या की नही। सख्याओं मे भी प्रथम संख्या इकाई है। शेष संख्यायें इकाई के योग मात्र है। सख्याये सम और विषम होती है। उन्ही के युग्मों से विश्व निर्मित होता है। स्टेस के अनुसार यह कच्चा दर्शन है। इसे 'गणितीय रहस्यवाद' कह सकते है, किन्तु यह तथ्यहीन और व्यर्थ है।[१]

सृष्टि विज्ञान मे उसका कुछ मूल्यवान योगदान है। उसने बताया कि पृथ्वी स्थिर नही है वरन् एक अग्नि पुंज के चारो ओर सूर्य, चन्द्र और तारो के साथ घूमती है। अरस्तू ने इसका विरोध किया किन्तु आगे चलकर कापरनिकस ने पाइथागोरस का समर्थन किया और उसके सिद्धान्त में किंचित संशोधन कर यह निश्चय किया कि पृथ्वी सूर्य के चारो ओर घूमती है। इसे आज भी वैज्ञानिक सत्य माना जाता है। पाइथागोरस की यह उपलब्धि दार्शनिक न होकर ज्योतिष सम्बन्धी है। इससे प्रतीत होता है कि पाइथागोरस की रुचि गणित और ज्योतिष मे अधिक थी दर्शन मे कम। इसलिए वह यथार्थवाद और भौतिकवाद से दूर हट गया।

उसका ही समकालीन जेनोफेनीज (जन्म ५७६ ई० पू०) पूर्णतः ईश्वरवादी

---

१. स्टेस- ए क्रीटिकल हिस्टी आफ ग्रीक फिलासफी, पृ० ३६

हो गया। उसने तत्कालीन प्रचलित धार्मिक और आध्यात्मिक विचारो को दार्शनिक रूप देकर तर्क सगत बनाने का प्रयास किया और देवताओं के सम्बन्ध में होमर आदि की गढ़ी हुई भद्दी कहानियो का विरोध किया। बहुदेववाद का खण्डन कर एक ईश्वर की मान्यता स्थापित की। ईश्वर ही साक्षात जगत् रूप बना है और उस पर नियन्त्रण भी रखता है। उसकी कल्पना थी कि पृथ्वी जल मे स्थित है। जब पृथ्वी जल मे डूब जाती है तो प्रलय और जब बाहर निकलती है तो उस पर प्राणियो की सृष्टि होती है। इस दर्शन मे भी भौतिकवादी तत्व नही दिखाई देते और न इसे अधिक तर्कसगत बनाने का प्रयास किया गया है।

जिस काल के दार्शनिको का हम उल्लेख कर रहे है उन्हे प्रत्ययवाद और भौतिकवाद का भेद ज्ञात नही था। इस भेद का आधार इन्द्रिय ज्ञान और बौद्धिक ज्ञान भी उन्हे पृथक अनुभव नही होता था। पार्मेनाइडीज (जन्म ५२० ई० पू०) ने ज्ञान के इन साधनों को पृथक रूप से समझने का प्रयास किया। ज्ञानमीमासा के क्षेत्र मे उसकी यह महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। इसी आधार पर उसने सत् और सम्भूति का भेद किया।

इन्द्रिय ज्ञान का विषय यह दृश्य जगत संभूति है। इसकी उत्पत्ति सत् से हुई है। सत् इन्द्रियों से नही जाना जाता। उसका किंचित ज्ञान बुद्धि से ही सम्भव है। विश्व की सभी वस्तुये उत्पत्ति और विनाश की विषय है। वे परिवर्तन-शील क्षणिक और नश्वर है। इसका ज्ञान तो हमें इन्द्रियों से ही हो रहा है। हमारी बुद्धि की यह माग है कि इसके मूल मे कोई नित्य, अविनाशी, अपरिवर्तन शील तत्व अवश्य होना चाहिए। उसे हम सत् कह सकते है। उसे अनादि होना चाहिए क्योंकि यदि हम उसका आदि माने तो उसकी उत्पत्ति सत् या असत् से ही माननी पड़ेगी। असत् से सत् की उत्पत्ति हो नही सकती और निर्विशेष सत् से सत् की उत्पत्ति मानना व्यर्थ है। सत् तो पहले ही विद्यमान था। उसी को हम अनादि कहते हैं।

सत् से उत्पन्न वस्तुये असत् है। इन्द्रियो से हमें असत् जगत का ही ज्ञान होता है।

इस दर्शन का आकलन करते हुए बाद के विद्वानो में दो मत हो गये एक पक्ष इसे प्रत्ययवाद और दूसरा पक्ष इसे भौतिकवाद मानने लगा। प्रत्यय-वादियों का तर्क है कि सत् बुद्धिगम्य है इसलिए यह प्रत्ययवाद ही है भौतिकवादी कहते हैं कि पार्मेनाइडीज सत् को देश के अन्तर्गत परिमित और गोलाकार मानता है, इसलिए यह सत् भौतिक वस्तु ही है। जगत का असत् मानना प्रत्ययवाद के पक्ष में प्रतीत होता है किन्तु यदि सत् भौतिक वस्तु है और उससे नश्वर वस्तुयें उत्पन्न होती हैं तो इस अर्थ में उसे असत कहने से भौति-

वाद को भी कोई आपत्ति नही होती। यदि सत् को हम द्रव्य मान ले तो इसे हम आधुनिक भाषा में द्रव्य की अनश्वरता का सिद्धान्त कह सकते है। इस सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य का न तो आदि है और अन्त। वस्तुओ की उत्पत्ति और विनाश द्रव्य से किस प्रकार होती है– इस प्रश्न पर डेमाक्रिटस आदि अन्य दार्शनिको ने विचार किया है। बर्नेट के शब्दो मे कह सकते है, "भौतिकी पाठ्य पुस्तकों का द्रव्य ही पार्मेनाइडीज का सत् है तथा जब तक हमें द्रव्य के अतिरिक्त कोई अन्य तत्व न उपलब्ध हो जाय तब तक उसके द्वारा प्रख्यापित सत्ता से ही सतोष करना पड़ेगा। कोई परवर्ती दार्शनिक सम्प्रदाय इस सिद्धान्त की अवहेलना नही कर सका। परन्तु पार्मेनाइडीज के इस सिद्धान्त से सन्तुष्ट होना भी असम्भव था। इस सिद्धान्त के कारण व्यावहारिक जगत के अस्तित्व का अपहरण हो जाता है तथा जगत का इतना अधिक अवमूल्यन होता है कि यह भ्रामक सत्ता के स्तर पर भी नही रह सकता। यदि हमे जगत की बुद्धिगम्य व्याख्या करनी है तो किसी न किसी प्रकार से गति को अवश्य मान्यता देनी पड़ेगी।"[1]

मेलिसस (४७०–४५० ई० पू०) ने पार्मेनाइडीज द्वारा प्रतिपादित सत् का सिद्धान्त स्वीकार किया और उसके अस्तित्व को स्वतन्त्र प्रमाणो द्वारा सिद्ध भी किया। उसने पार्मेनाइडीज के विचार मे इतना संशोधन किया कि सत् परिमित और गोलाकार नही है। उसका तर्क था कि यदि सत् को सीमित मानें तो उसे एक रिक्त देश से आवृत्त मानना पड़ेगा किन्तु रिक्त देश नाम की कोई चीज नही है। अत सत् अनन्त होना चाहिए। अनन्त ही एक हो सकता है। इस प्रकार मेलिसस ने सत् एक अविभक्त और निर्विशेष स्वीकार किया। वह अनन्त देश और अनन्त काल में व्याप्त है।

यह प्रश्न फिर विवाद का विषय बना रहा कि सत् विज्ञानरूप है अथवा एक भौतिक तत्व है। बर्नेट का मत है कि उसने पार्मेनाइडीज की ही भांति सत को मूर्त (कार्पोरियल) माना, कभी कभी यह भी कहा जाता है कि मेलिसस ने सत् को अमूर्त माना, परन्तु यह कथन एक भ्रान्ति पर आधारित है। इससे सिद्ध होता है कि बर्नेट मेलिसस द्वारा प्रतिपादित सत् को भौतिक तत्व मानते है। किन्तु जब हम देखते है कि मेलिसस सत् को दु ख और पीडा से इसलिए मुक्त मानता है कि उसमे कोई ह्रास या वृद्धि नही होती, तो यह सिद्ध होता है कि सत् चेतन तत्व है। उसमे भौतिकता नही है।

जेनो (जन्म ४८९ ई० पू०) ने पार्मेनाइडीज और मेलिसस के दार्शनिक सिद्धान्त

---

१ जान बर्नेट ग्रीक दर्शन पृष्ठ ७३ ७४

स्वीकार किये और उन्ही को प्रमाणित करने के लिए उसने अनेक प्रमाण एकत्र किये। उसके अनुसार दृश्यजगत की सत्ता अवश्य है किन्तु वह आभास, भ्रम और प्रतीति मात्र है। यह जगत वास्तविक नही है। सत् वस्तु तो एक, अनन्त असीम और निर्विशेष है, जिससे यह जगत उत्पन्न होता है और विनाश को प्राप्त होता है। जगत की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वह किसी उच्चतर सत्ता पर टिकी है।

जगत का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए जेनो ने द्वन्द्वन्याय की उद्भावना की। यह उसके चिंतन की मौलिक उपलब्धि है। उसके द्वारा वह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि नानात्व और गति को सत् मे को स्थान प्राप्त नही है। वह नानात्व (अनेकता) और गति में दो विरोधी पक्ष दिखाकर उन्हें व्याघात से ग्रसित सिद्ध करता है। जिस वस्तु का लक्षण आत्मव्याघाती हो वह सत् नहीं हो सकती। वह कहता है, यदि सत् मे अनेकता हो तो उसमें अनेक भाग या अंग होंगे, और यह पूर्ण बहुत छोटा और बहुत बड़ा सिद्ध किया जा सकता है। बहुत छोटा तो इसलिए है, क्योंकि उसमें बहुत छोटे अंश है और छोटे अशों से बना योग भी छोटा ही होगा। वह बहुत बडा इसलिए होगा क्योकि किसी सीमित अंश को सदा दूसरे अनन्त अंशों के साथ जोड़ सकते है। वह पूरी वस्तु निश्चय ही बहुत बड़ी होगी। किसी वस्तु को बहुत छोटी और बहुत बड़ी एक साथ मानना मूर्खता होगा, इसलिए हमे नानात्व की कल्पना ही त्याग देनी चाहिए। इसी द्वन्द्वन्याय के द्वारा जेनो देश और काल में व्याघात दिखाकर उन्हें मिथ्या सिद्ध करता है।[1]

हेराक्लाइटस (५३५–४७५ ई० पू०) ने अब तक चली आ रही परम्परागत दर्शन-धारा को सहसा मोड़ दिया। इसने पार्मेनाइडीज और मेलिसस के विचारों को इस अर्थ में उलट दिया कि सभूति को उसने उसी प्रकार निर्भ्रान्त और यथार्थ माना जैसे पूर्वगामी दार्शनिक सत् को मानते थे। इसलिए हेराक्लाइटस का मत 'सभूति का सिद्धान्त' कहलाता है।[2] इसके अनुसार संभूति ही एक मात्र सत्य है। स्थिरता और नित्यता सत् नहीं वरन् भ्रम है। जगत मे हम जो कुछ पाते हैं सब प्रतिक्षण बदल रहा है। यह जगत एक नदी की भाति प्रतिक्षण बदलता चला जा रहा है। जैसे कोई व्यक्ति एक नदी मे दो बार स्नान करने के लिए प्रवेश नही कर सकता उसी प्रकार हम इस जगत को दूसरे क्षण वही नही पाते। हमें यदि कोई वस्तु कुछ काल तक स्थिर दिखाई देती है तो वह हमारा भ्रम है। उसका सूत्र है, "सब कुछ प्रवाह मात्र है।"[3]

---

१. फ्रेंक थीली, ए हिस्ट्री ऑर फिलासफी, पृष्ठ ३६
2. Doctrine of Becoming.
3 All is flux W T Stace CHGP page 74

जगत में हो रहा परिवर्तन सत् है और इसमे भासित होने वाली निश्चलता असत् है। इस प्रकार सभूति मे ही सत् और असत् दोनो है। हेराक्लाइटस के अनुसार जैसे जगत मे सत् और असत् विरोधी तत्व विद्यमान है वैसे ही इसमे जन्म-मृत्यु, शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य, प्रेम घृणा आदि द्वन्द्व भी पाये जाते है। इन द्वन्द्वो मे एक प्रकार की एकता है। उनमे समन्वय या सवाद है।

हेराक्लाइटस के अनुसार सबसे अधिक परिवर्तनशील अग्नि है। उसी से जगत की उत्पत्ति होती है। अग्नि से वायु, वायु से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है। उसके विपरीत प्रलय काल मे पृथ्वी जल मे, जल वायु मे और वायु अग्नि मे लीन हो जाती है। किन्तु अग्नि के सम्बन्ध में इस दार्शनिक के विचार कुछ भिन्न प्रकार के है। उसे वह जीवन्त अग्नि मानता है। इसमे जीवन और विवेक-बुद्धि का गुण है। प्राणियो और मनुष्यो मे इसी जीवन्त अग्नि की अधिकता से गतिशीलता और समझ आती है। विश्व में यह अग्नि एक है। वही सब प्राणियो मे चेतनारूप मे व्यक्त है। इसलिए सब प्राणियो का आत्मा एक ही है।[1] उससे हमारा विच्छेद हो जाने पर मृत्यु हो जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हैराक्लाइटस पुनः वस्तुवाद और भौतिकवाद की ओर वापस आता है किन्तु अग्नि को एक चेतन तत्व मानकर जीवन की व्याख्या करने का प्रयास करता है। इस प्रयास मे वह चेतनवाद या प्रत्ययवाद को नहीं त्याग पाता।

ऐम्पेडॉक्लीज (४९५-४३५ ई० पू०) अपने पूर्वगामी लगभग सभी दार्शनिको के मतों मे समन्वय करने का प्रयास करता है। इस प्रयास में उसकी भौतिकवादी प्रवृत्ति प्रधान होने लगती है। वह द्रव्य को अनादि और अविनासी मानता है और दृश्यजगत में परिवर्तन भी स्वीकार करता है। उसके विचार से मूल द्रव्य चार हैं–अग्नि, जल, वायु और पृथ्वी। ये चारो द्रव्य नित्य हैं। इसमें से कोई भी द्रव्य किसी दूसरे द्रव्य का रूप धारण नही करता। इन चारो के सयोग से जगत की उत्पत्ति होती है। ये द्रव्य विविध अनुपात मे मिलते है और विभिन्न प्रकार की वस्तुये बनती हैं।

पृथ्वी आदि द्रव्य जड़ और गतिहीन है। वे आपस में कैसे मिलते है। उनमे गति उत्पन्न करने वाला कौन है? इसके उत्तर मे एम्पेडॉक्लीज प्रेम और घृणा नाम की आकर्षण और विकर्षण शक्तियो की कल्पना करता है। उसका हेतु ईश्वर या कोई अज्ञात शक्ति नही है। आकर्षण और विकर्षण की शक्तिया

1. W. T. Stace, CHGP, page 79

भौतिक है ।[1] यही शक्तियां मनुष्य मे प्रेम और घृणा रूप मे अनुभव की जाती है । सृष्टि में उत्पत्ति और प्रलय निरन्तर चलती रहती है । इस समय जगत न पूर्णतः प्रेम की अवस्था मे है और न पूर्णतः घृणा की अवस्था में । यह सृजन और विघटन के बीच की स्थिति है ।

एम्पेडॉक्लीज की दार्शनिक स्थिति का आकलन करते हुए स्टेस ने लिखा है कि वह परमेनइडीज के द्विविध व्याख्येय दर्शन का भौतिकवादी पक्ष ग्रहण कर लेता है ।[2] उसके विचार परमाणुवादियो के प्रेरणा के स्रोत बनते है ।

एम्पेडॉक्लीज का समकालीन एक अन्य दार्शनिक है– एनेक्जेगोरस (५००–४२८ ई० पू०) उसके अनुसार ससार मे जितने भी द्रव्य है वे सभी मूल द्रव्य हैं । वह सोना, चादी, पीतल, तांबा, लोहा, मिट्टी सब को मूल द्रव्य मानता है । वे अपना रूप परिवर्तित कर कोई दूसरा द्रव्य नही बन सकते । इन सबकी स्वतन्त्र सत्ता है । इन्हीं से जगत की सब मिश्रित वस्तुएँ बनती है । इनमे गति होने का कारण प्रेम या घृणा नही है । एनेक्जेगोरस अपने अन्तर्जगत का निरीक्षण कर 'नाउस' नाम का एक चेतन तत्व खोजता है । वही मन या बुद्धि रूप में अनुभव किया जाता है । यह आध्यात्मिक अभौतिक और अशरीरी तत्व है । इसी की प्रेरणा से भौतिक तत्व मिलकर जगत की रचना करते है । जैसे कुम्भकार मिट्टी से घट की रचना करता है, इसी प्रकार 'नाउस' भौतिक द्रव्यों से जगत की सृष्टि करता है ।

बर्नेट 'नाउस' को एक भौतिक और प्राकृत सत्ता स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार एनेक्जेगोरस ने 'नाउस' को सबसे पतली और शुद्ध वस्तु माना है । उसमे कुछ मिश्रित नही है । इस वर्णन से यह तात्पर्य निकलता है कि वह कोई भौतिक तत्व है ।[3] यद्यपि स्टेस ने इस मत का खण्डन किया है और 'नाउस' को एक चेतन अभौतिक सत्ता माना है, किन्तु इसमे सन्देह नही कि तत्कालीन अन्य दार्शनिकों की भांति एनेक्जेगोरस भी अपने दार्शनिक चिन्तन में भौतिकवादी प्रवृत्ति पकड़े रहता है । वह बहुतत्ववादी होने के कारण अन्य द्रव्यो की भांति एक शुद्ध, तरल, चेतन तत्व भी स्वीकर कर लेता है और उसके द्वारा इस व्यवस्थित और क्रमबद्ध जगत की रचना सिद्ध करता है । 'नाउस' तत्व की सहायता से ही वह इस जगत

---

1. W. T. Stace, CHGP, page 83
2. 'Empedocles seizes upon the materialistic side' W.T. Stace, CHGP, page 81
3. W.T. Stace, CHGP, page 98

में प्रयोजन भी देखता है। उसके दर्शन मे प्रयोजनवाद का सिद्धान्त सर्वप्रथम सन्निविष्ट होता है। वह देखता है कि प्रकृति में जो घटनायें घट रही है वे यंत्रवत नही है, उनका अपना उद्देश्य है। अग्रगामी दार्शनिकों ने इस तत्व का गंभीर चिन्तन किया और उसके स्वरूप को सुनिश्चित रूप देने का प्रयास किया।

थीली के मतानुसार इस दर्शन में अस्पष्ट द्वैतवाद के बीज मिलते हैं। मन जगत-प्रक्रिया का प्रेरक बन कर आता है, किन्तु वह भी जगत मे ही विद्यमान मिलता है। जहा भी गति की आवश्यकता होती है वह धातुओं तक मे मिल जाता है। थीली यह भी मानते है कि उसके दर्शन में मन (नाउस) गति की व्याख्या का यंत्र बनकर आया और दार्शनिक प्रत्ययवाद के लिए एक आधार बन गया।[1]

---

1. Frank Thilly, A History of Philosophy, p. 46

८

डेमॉक्रिटस का परमाणुवाद

यूनानी दर्शन का प्रथम युग विकसित होता हुआ परमाणुवाद के सोपान पर समाप्त होता है। थेलीज द्वारा उठाये गये प्रश्नों का किसी हद तक एक समाधान परमाणुवाद में मिलता है। इसके प्रवर्तक ल्युसिपस और डेमॉक्रिटस (४७० ई० पू०) थे। यद्यपि परमाणुवादी मत के प्रवर्तन का श्रेय ल्युसिपस को मिलना चाहिए किन्तु उसके जीवन के सम्बन्ध मे इतना कम ज्ञात है कि कभी-कभी यह माना जाता है कि ल्युसिपस जैसे किसी व्यक्ति का कोई अस्तित्व ही न था। किन्तु ऐसा समझना उचित नहीं है। अरस्तू और थियोफ्रेस्टस ने निश्चित रूप से ल्यूसिपस को ही प्रथम परमाणुवादी होने का श्रेय दिया है। ल्यूसिपस के किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता है, इसलिए उसके सिद्धान्तों को भी जानने का साधन हमारे पास नही है। डेमॉक्रिटस उसका शिष्य था। उसने अपने गुरु की शिक्षाये अपने ग्रन्थ में सम्मिलित कर ली। फिर भी थियोफ्रेस्टस ने इन दोनों दार्शनिकों के मत पृथक करने का प्रयास किया है।[1]

इतना फिर भी कह सकते हैं कि ल्यूसिपस माइलेटस का निवासी था या इलिया का। वह इलिया के दार्शनिको का और विशेष रूप से जीनो का शिष्य था। साथ ही हम देखते है वह पार्मेनाइडीज से भी प्रभावित था। पार्मेनाइडीज माइलेटस का निवासी था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह माइलेटस का रहने वाला था, किन्तु किसी कारण से इलिया चला गया था।

प्लेटो ने अन्य दार्शनिकों के मतों का उल्लेख करते समय ल्यूसिपस और डेमॉक्रिटस का उल्लेख नही किया है। सम्भवतः उसे परमाणुवादियो के सिद्धान्त ज्ञात नही थे। प्लेटो की अनुपस्थिति मे अरस्तू ही परमाणुवाद के सम्बन्ध मे हमारा प्रमुख आधार है। उसने इस सिद्धान्त की उत्पत्ति के बारे में अत्यन्त स्पष्ट तथा सुबोध विवरण प्रस्तुत किया है। बर्नेट को ऐसा लगता है कि वह

1. जॉन बर्नेट, ग्रीक दर्शन, पृष्ठ १०१

परमाणुवाद के बारे मे अधिक ऐतिहासिक विवरण के लिए उत्कण्ठित था क्योंकि उसकी अकादमी में इस विषय मे लोगों को बहुत कम जानकारी थी।[1]

स्टेस के अनुसार ल्युसिपस के विषय मे अधिक जानकारी नही मिलती किन्तु इतना निश्चय है कि एम्पीडोक्लीस और एनेक्जागोरस के काल में विद्यमान था।[2] डेमॉक्रिटस उसका शिष्य या अनुयायी था। उसके विषय मे पर्याप्त जानकारी मिलती है। वह थ्रेस मे एब्डेरा का रहने वाला था। तत्कालीन समय को देखते हुए उसे व्यापक ज्ञान का अधिकारी कहा जा सकता है। ज्ञान की जिज्ञासा मे ही उसने अन्य देशो की याता की थी। वह मिश्र मे बहुत घूमा और शायद बेबीलोनिया भी गया था। यह तो पता नही कि उसकी मृत्यु कब हुई थी किन्तु वह निश्चय ही दीर्घजीवी था। वह नब्बे या सौ वर्ष जीवित रहा था। उसने ल्यूसिपस के दिखाये हुये अणुवादी मार्ग पर चलते हुये दीर्घकाल तक विचार किया और इस मत मे विस्तार, गहनता और संगति लाने का प्रयास किया। उसी के कारण परमाणुवाद प्रसिद्ध हुआ। फिर भी वह अपने जीवन काल मे बहुत दिन उपेक्षित रहा। कहते हैं कि जब प्रोटागोरस एथेन्स गया तो वहाँ के विद्वान उससे उत्साह के साथ मिले, किन्तु जब डेमॉक्रिटस वहाँ गया तो किसी ने उसे पहचाना तक नही। एथेन्स में उसके दर्शन की उपेक्षा बहुत दिन तक हुई।[3]

एम्पेडॉक्लीज और एनेक्जेगोरस ने जगत का वैज्ञानिक और प्राकृत रूप प्रस्तुत करने के लिए दार्शनिक भूमि तैयार कर दी थी। उसमे कुछ ऐसे दार्शनिक प्रश्न उभडने लगे थे जिनका समाधान खोज लेने पर दर्शन अधिक सुसंगत हो सकता था। ल्यूसिपस और डेमॉक्रिटस ने इस चुनौती को स्वीकार किया और अपने पूर्वगामी दार्शनिकों के मत में अनेक प्रकार से सुधार किया। यह कार्य इतना महत्वपूर्ण था कि उसकी उपलब्धि स्वरूप परमाणु दर्शन ने विज्ञान को अब तक प्रभावित किये रखा।[4]

डेमॉक्रिटस अपने पूर्वगामी दार्शनिको से इस बात मे सहमत था कि सत् मूल तत्व है और वह अपरिवर्तनीय है। किन्तु उसने यह स्वीकार नही किया कि वह सत् कुछ गुणों से विशिष्ट है और उसमे प्रेम तथा घृणा अथवा मन के द्वारा कोई गति सम्भव है। उसने अन्तिम सत् परमाणु रूप माना और उनकी गति का कारण भी उन्ही मे निर्धारित किया।

१- जान बर्नेट, ग्रीक दर्शन, पृष्ठ १०२
2. W. T. Stace, C H G P, page 87
3. Bertrand Russells, History of Western Philosophy, page 84
4. Frank Thilly, A History of Philosophy p. 46

स्टेस ने एम्पेडॉक्लीज के दर्शन की कुछ दुर्बलताओ का उल्लेख किया है, जिनके ऊपर डेमॉक्रिटस को विचार करना आवश्यक हुआ।[1] सर्वप्रथम हम देखते हैं, एम्पेडॉक्लीज का मत है कि सब वस्तुये कुछ अंशों से मिलकर बनती है, अतः पूर्व विद्यमान भौतिक पदार्थ के मिलने और पृथक होने से सभी सभूति को संभव मानना होगा। इस प्रकार वह अपने सिद्धान्त मे भौतिक अणुओं का तो प्रयोग करता है किन्तु वह उनका स्वरूप स्पष्ट रूप से निर्धारित नही करता। उसके वर्णन से हमें उन अणुओ या अशो का निश्चित ज्ञान न्ही मिलता। दूसरे एम्पेडॉक्लीज ने उन अणुओ मे गति उत्पन्न करने वाली जिन शक्तियो (प्रेम और घृणा) की उद्भावना की वह काल्पनिक और विचित्र थी। तीसरे वह किसी वस्तु के गुणों का आधार उसके घटक अशों की व्यवस्था और क्रम मानता है, किन्तु इसकी विस्तृत व्याख्या आवश्यक थी। उसके मतानुसार मूल तत्व चार है और उनमे गुणात्मक भेद है। इसीलिए अन्य सभी वस्तुओ के विभाजक गुण इन्ही चार तत्वो के विभिन्न अनुपात मे मिलने से उत्पन्न होने चाहिए। केवल चार तत्वो के गुण ही मौलिक हैं। शेष सभी गुण चार तत्वों की व्यवस्था के सूचक और उत्पन्न तथा नष्ट होने वाले हैं। गुणो की यांत्रिक व्याख्या करने का यह प्रथम प्रयास था। अभी उस विधान को खोजना शेप था जिसके अनुसार सभी गुण किसी व्यवस्था और क्रम से उत्पन्न होते है। अतः एम्पेडॉक्लीज द्वारा प्रतिपादित यांत्रिक और भौतिकवादी मत बहुत दिन तक अविकसित नही रह सकता था। उसकी परिणति परमाणुवाद में होना आवश्यक थी।

एम्पेडॉक्लीज के दार्शनिक सिद्धान्तो को विकसित करने का मार्ग एनेक्जागोरस ने दिखा दिया था। उस मार्ग पर वह स्वय थोडा ही आगे बढ़ा था किन्तु परमाणुवादी दार्शनिक उस ओर साहस के साथ दूर तक निकल गये। थीली ने स्पष्ट किया है कि एनेक्जागोरस के स्थान से मेडॉक्रिटस कितने आगे निकल गया था।[2] सर्व प्रथम हम देखते है, एनेक्जागोरस ने गुणात्मक भेद रखने वाले अगणित तत्वों की सत्ता मानी थी। डेमॉक्रिटम ने उन तत्वों के स्थान पर अगणित सख्या वाले परमाणुओं की सत्ता निर्धारित की। इनमें केवल रूप, आकार आदि का परिमाणात्मक भेद है। दूसरे, एनेक्जागोरस के मूलतत्व अगणित छोटे–छोटे अशों में विभाज्य थे, किन्तु डेमाक्रिटस के परमाणु ऐसे सरल अश हैं जो स्वयं विभक्त नहीं हो सकते। तीसरे, एनेक्जागोरस का ध्यान रिक्त स्थान की ओर नहीं गया। सम्भवत वह समझता था कि गुणविशिष्ट तत्व सर्वत्र विद्यमान है। डेमॉक्रिटस परमाणुओं की गति के लिए शून्य स्थान की सत्ता आवश्यक मानता

1. W. T. Stace. C H G P page 87
2. Frank Th y A H story of Western Ph osophy p 47

है। चौथे, एनेक्जागोरस तत्वों में गति उत्पन्न करने के लिए उन तत्वों से पृथक मनस् की सत्ता स्वीकार करता था। डेमॉक्रिटस ने गति को परमाणुओं का ही आन्तरिक गुण माना। पांचवें एनेक्जागोरस के अनुसार मन प्रयोजनवादी सिद्धान्त से काम करता है किन्तु डेमॉक्रिटस के परमाणु यांत्रिक नियम से संचालित होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूर्वगामी दार्शनिकों की चिन्तनधारा का ही एक विकसित रूप डेमॉक्रिटस का परमाणुवाद है। इसे तत्कालीन स्थिति को ध्यान में रखकर बहुत कुछ विकसित और तर्कसंगत दर्शन कह सकते हैं।

एम० एन० राय ने डेमॉक्रिटस के भौतिकवादी दर्शन की सात विशेषतायें मानी हैं। सर्वप्रथम, इसके अनुसार असत् से कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता और किसी भी वस्तु का विनाश नहीं हो सकता। आधुनिक भौतिक विज्ञान इसी आधार पर भूत पदार्थ के अविनाशी होने का और ऊर्जा-संरक्षण का सिद्धान्त मानता है। दूसरे, इस दर्शन के अनुसार कोई भी परिवर्तन परमाणुओं के संयोग और वियोग से ही होता है। इन दोनों सिद्धान्तों का तात्पर्य यह हुआ कि सृष्टि रचना पूर्णतः यांत्रिक चलती है। अतः विश्व की उत्पत्ति का कोई प्रश्न ही नहीं है। शून्य से जगत की उत्पत्ति मानने वाले सब सिद्धान्त खण्डित हो जाते हैं। प्रयोजनवाद के लिए भी कोई स्थान नहीं रह जाता।

तीसरे, काकतालीय न्याय से कुछ भी नहीं होता। हर घटना का कारण है और उसका घटित होना आवश्यक है। अतः भौतिकवाद किसी परिवर्तन का सहसा होना या यदृच्छावाद को स्वीकार नहीं करता। इसके द्वारा पूर्वनिर्धारित नियम और प्रयोजनवाद का भी खण्डन होता है। कोई घटना सहसा तभी मानी जाती है जब उसका कारण ज्ञात न हो। दर्शन इस प्रकार के अज्ञान को मान्यता देकर किसी अतिभौतिक शक्ति की कल्पना नहीं करता। यदि किसी घटना का कारण तत्काल नहीं दिखाई देता तो यह क्षणिक अज्ञान है। दर्शन इस अज्ञान को दूर करने का प्रयास करने लगता है। यदि ऐसा न हो तो वैज्ञानिक प्रगति असंभव हो जायेगी।

चौथे, परमाणु और शून्य प्रदेश के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसी से प्रकृति की तर्कसंगत व्याख्या हो सकती है। भौतिक विज्ञान की सब खोजों से यही सिद्ध हुआ है कि समस्त दृश्य जगत के मूल में भौतिक परमाणुओं की गति ही कार्य कर रही है। विज्ञान के अणु सिद्धान्त से ध्वनि, प्रकाश, ताप तथा अन्य भौतिक एवं रासायनिक परिवर्तन के नियम निकले हैं।

पाँचवें परमाणु संख्या में अनन्त हैं और वे रूपाकार में भी अगणित प्रकार के हैं वे अनन्त शून्य में निरन्तर गिर रहे हैं गिरते हुये परमाणुओं में

से बड़े परमाणु छोटों का मार्ग अवरुद्ध करते है और वे आपस में टकराकर अन्य दिशाओं मे गति उत्पन्न करते है और उनका भँवर-सा बन जाता है। उन्ही से अनेक विश्वों का सृजन होता है। उनका साथ-साथ तथा एक के बाद एक सृजन और विनाश होता रहता है। डेमॉक्रिटस की यह कल्पना बचकानी लगती है, किन्तु जगत का मूल कारण परमाणु मिल जाने पर यह आवश्यक हो जाता है कि उनके मिलने और बडी वस्तुओं के बनने की प्रक्रिया पर विचार किया जाय। इसके लिए वह परमाणु का रूप और आकार छोटा बडा मान लेता है। यहीं उसके दर्शन की सबसे बडी कमजोरी आ जाती है। बडे परमाणु मानने का अर्थ है कि वे पूर्णतः विभक्त नही है। वे वस्तुत परमाणु नहीं है।

यदि डेमॉक्रिटस छोटे-बडे आकार के परमाणुओ की कल्पना न करता तो उनमें गति और टकराहट का कारण नही बताया जा सकता था। इसलिए यहाँ तर्कीय दोष अवश्य है, किन्तु उस काल मे वह दोष उतना महत्त्वपूर्ण नही था, जितना आज प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त अनन्त शून्य प्रदेश की कल्पना मे भी दोष है। यदि परमाणुओं के विचरण के लिए अनन्त शून्य प्रदेश उपलब्ध है तो उनके छोटे-बडे होने से भी उनकी गति में कोई अन्तर न अवेगा। अरस्तू ने यह समझ लिया था। इसलिए उसने इसी को अपनी आलोचना का एक बिन्दु बनाया। डेमाक्रिटस के विचारों में तर्कीय दोष कितने ही हो किन्तु उन्हे विज्ञान का समर्थन मिला है।

छठे, परमाणुओ मे कोई आन्तरिक गुण या दशा नही है। उनमें दबाव या टकराहट से ही गति उत्पन्न होती है। आन्तरिक गुण से तात्पर्य है स्फुरणा। परमाणुओ मे स्फुरणा का गुण नही है। वे शुद्ध भौतिक पदार्थ है। उनमे गति होने से टकराहट होती है और वात्याचक्र सा बनता है। यही घूर्णन गति जटिल होकर स्फुरण और जीवन उत्पन्न करती है। आत्मा के परमाणु भी भौतिक है और उनमे यान्त्रिक क्रिया होती है।

सातवे, जीव की रचना सबसे सूक्ष्म और गतिवान परमाणुओं से हुई है। वह पूरे शरीर मे व्याप्त होता है और उससे जीवन की उत्पत्ति होती है।

एम० एन० राय की इस व्याख्या से डेमॉक्रिटस की स्थिति बहुत कुछ स्पष्ट होती है किन्तु इसमे यथार्थ निरूपण की अपेक्षा भौतिकवादी और वैज्ञानिक पक्ष का समर्थन तथा प्रशंसा अधिक है। हम आगे दर्शन के इतिहासकारो का निष्पक्ष विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

ल्यूसिपस के दो अभ्युपगम

प्रो० गोम्पर्ज ने अणुवादी दार्शनिकों के दो मल अभ्युपगम (पोस्टुलेट)

माने है, जिनके आधार पर उनके सब सिद्धान्त विकसित हुए है।[1] उनमे से पहला है अदृश्य गतिमान अणु और दूसरा है अदृश्य शून्य प्रदेश। इन दोनो अभ्युपगमो पर पूर्व दार्शनिक भी विचार करते आ रहे थे किन्तु वे इनमे से किसी को दृढता पूर्वक नही पकड सके। ल्युसिपस के सामने ये दोनों मत आये तो उसकी दृष्टि इन पर केन्द्रित हो गयी और उसने इन्ही दोनो को अपने विचार का आधार बनाया। इन पर विचार करते हुए उसे एक अभ्युपगम और मिला। वह भी उसके लिए उपयोगी था। उसके अनुसार अणु अविभाज्य है और उनके अन्दर कुछ भी प्रवेश नही कर सकता। इस मान्यता से यह सम्भव हुआ कि जब दो अणु एक दूसरे से टकराये तो वे एक दूसरे में प्रवेश न करे और न उन्हे नष्ट करे वरन् टकराने के धक्के से उनमे गति उत्पन्न हो और उनके स्वच्छन्द भ्रमण की दिशा मे मोड आवे।[2]

परमाणुओं का स्वरूप और लक्षण

ऐम्पेडोक्लीज ने अपने पूर्वगामी विचारको से यह जाना कि इस जगत का मूल कारण जल, वायु या अग्नि जैसा कोई तत्व है। उसका स्वयं का अनुभव था कि ये तत्व रूपान्तरित होकर किसी दूसरे तत्व का रूप धारण नही कर पाते है। वायु से जल नही बन पाता और जल से वायु उत्पन्न नही होती। इनके इस अपरिवर्तनीय रूप को देखकर उसने स्वीकार किया कि मूल तत्व चार है और उन्ही के सम्मिश्रण मे सब जगत बना है। इस सिद्धान्त पर जब एनेक्जागोरस ने ध्यान दिया कि इन चार वायु, अग्नि, जल, और पृथ्वी के अतिरिक्त भी कुछ तत्व ऐसे है जो अन्य तत्वों से नही बनते। सोना, चादी आदि धातुयें जल आदि की तो बात ही क्या, मिट्टी से भी नही बनती। इसलिए उसने अगणित तत्वो की सत्ता स्वीकार कर ली और उन्ही से जगत की उत्पत्ति सिद्ध करने का प्रयास किया। डेमॉक्रिटस को ल्युसिपस से सकेत मिला कि अन्तिम तत्व परमाणु रूप है और उन्ही से पृथ्वी, जल आदि तथा अन्य सभी वस्तुयें बनी है। प्रकृति का निरीक्षण करने से यह मत सिद्ध होता दिखाई देता है। पृथ्वी हो या सोना जल हो या वायु ये सब परमाणु रूप मे विभक्त हो सकते है। इसलिए उन्ही परमाणुओं से इन सब की उत्पत्ति माननी चाहिए।

डेमॉक्रिटस सभी तत्वों के विभक्त अंशो को कण (पार्टिकल) मानता था इसलिए उसका मत 'कणो का सिद्धान्त' है। इसके अनुसार जो कण पुनः विभक्त

1. Theodor Gomperz, The Greek Thinkers, page 324
२ वही पृष्ठ ३२६

नही हो सकते वे परमाणु है। उनका सब से पहला लक्षण यही है कि वे अविभाज्य है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अविभाज्यता दो प्रकार की हो सकती है— एक गणितीय और दूसरी भौतिक। गणित के द्वारा किसी वस्तु का विभाजन करे तो किसी अणु के भी हजार, लाख या करोड हिस्से हो सकते है। जहाँ तक सख्या हो सकती है, वहाँ तक उसका विभाजन भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि गणितीय विभाजन का कोई अन्त नहीं है, इसलिए गणित की दृष्टि से अविभाज्य परमाणु सिद्ध नही होता है। भौतिक रूप से प्रयोगशाला मे यदि किसी वस्तु का विभाजन करे तो निश्चय ही अन्त में इतने छोटे कण मिलते है कि उनका पुन विभाजन नही हो सकता। इसी दृष्टि से डेमाक्रिटस परमाणु को अविभाज्य इकाई मानता है।[1]

परमाणु सख्या मे इतने अधिक है कि उनकी गणना नही की जा सकती। उन्हे अनन्त कह सकते है। ये आकार में इतने छोटे है कि इन्हे आँखो से देखा नही जा सकता।

यद्यपि अनुभव से ऐसा प्रतीत होता है कि जल आदि तत्वो के परमाणु भिन्न-भिन्न गुणों के होगे किन्तु डेमाक्रिटस ऐसा नही मानता। वह सब परमाणुओ को एक ही प्रकार का मानता है। इस विषय मे वह परमीनाइडस से प्रभावित प्रतीत होता है। परमीनाइडस मानता था कि अन्तिम तत्व एक अविनाशी वस्तु है और वह सर्वत्र एक समान है। डेमाक्रिटस ने मानो उसी तत्व को परमाणु मे विभक्त कर लिया और वे सब परमाणु एक ही गुण के रहे। परमेनाइडस के सत् के समान वे शाश्वत, अपरिवर्तनीय और अविभाज्य है। इसका तात्पर्य यह है, कि भूत पदार्थ अविनाशी है जो आज के विज्ञान की प्रमुख मान्यता है।

सभी परमाणु एक ही भूत तत्व होने के कारण एक समान हैं, और उनमे कोई गुणात्मक भेद नही है। उनमे केवल परिमाणात्मक भेद है। उनके आकार छोटे-बडे है। एक समान तत्व के परमाणुओ का छोटा-बड़ा होना यद्यपि तर्क हीन प्रतीत होता है, किन्तु उनकी गतियो मे भेद दिखाने के लिए डेमाक्रिटस को यह कल्पना करनी पड़ी।

यद्यपि परमाणुओ मे कोई गुण स्वीकार नही किया गया फिर भी उनके ठोस होने और अविभाज्य होने का गुण तो है ही। इसके अतिरिक्त उनके भारी होने का गुण उनमे प्रतीत होता है। यद्यपि डेमॉक्रिटस उनमे भार का गुण स्वीकार नही करता किन्तु यह तो कहता है कि वे निरन्तर झरते गिरते रहते है यदि उनमे भार न हो तो वे क्यों गिरेगे। स्टेस ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि बाद के ऐपीक्यूरियन दार्शनिको ने परमाणुवाद का प्रचार करते समय परमाणुओं

1 Frank Thilly. A History of Western Philosophy, p. 48

के भार की कल्पना कर ली होगी।[1] कुछ भी हो भार की कल्पना अवैज्ञानिक है। इसका सम्बन्ध गुरुत्वाकर्षण से है। जब तक हम कुछ या सब परमाणुओ मे आकर्षण का गुण न माने या परमाणुओ से अन्यत्र किसी स्थान मे आकर्षण शक्ति की कल्पना न करे, परमाणु कभी गिर या उठ नही सकते।

प्रो० गोम्पर्ज के अनुसार डेमॉक्रिटस परमाणुओ से बने पिण्डो (बाडी) को दो प्रकार का मानता है।[2] कुछ पिण्ड सरल है और कुछ मिश्रित। उदाहरण के लिए उसके रगो का सिद्धान्त और स्वादो का सिद्धान्त देखना चाहिए। वह परमाणुओ से बने चार मूल रग मानता है— सफेद, काला, लाल और हरा। उनके मिलने से अन्य रग उत्पन्न होते है। इसका तात्पर्य है कि मूल रग सरल पिण्ड है और उनमे मिल कर बने अन्य रग मिश्रित पिण्ड है। स्वाद भी अणुओ के आकार और परिमाण पर निर्भर है। नुकीले परमाणुओ से बने पिण्ड खट्टापन और चिकने परमाणुओं से बने पिंड मीठापन का अनुभव उत्पन्न करते है।[3]

शून्य प्रदेश

यदि सभी परमाणु पास-पास सटाकर रखे हो तो उनमे कोई गति न होगी और उसके फलस्वरूप कोई रचना भी न हो सकेगी। इसलिए परमाणुओ मे गति मानने के लिए शून्य प्रदेश की सत्ता मानना भी आवश्यक हुआ। एक परमाणु से दूसरे को अलग करने के लिए भी रिक्त स्थान चाहिए। अतः डेमाक्रिटस ने अन्तिम तत्व दो माने परमाणु और रिक्त स्थान। ये दोनों तत्व इलियायी दार्शनिको के सत् (बीइग) और असत् (नान बीइग) के समतुल्य है। अन्तर केवल इतना है कि इलियायी असत् की कोई सत्ता या उसमें कोई तात्त्विक अस्तित्व नही मानते थे किन्तु परमाणुवादी कहते है कि शून्य प्रदेश उतना ही सत है जितना परमाणु पुंज। वे परमाणुओ को शून्य प्रदेश से अधिक सत् नही मानते। स्टेस के अनुसार परमाणुओ मे कोई गुण न होने के कारण वे शून्य प्रदेश से भिन्न प्रकार के नही है। अन्तर केवल इतना है कि शून्य प्रदेश में परमाणु भरे हुए है।

पूर्व के कुछ दार्शनिक शून्य की सत्ता नही मानते थे। जहाँ शून्य प्रतीत होता है वहाँ भी वायु है। पूर्णत रिक्त स्थान कही नही है। जो शून्य की सत्ता स्वीकार करते थे उनका तर्क था "आप कहते है शून्य है, इसलिए ऐसा नही है कि शून्य कुछ न हो।" यद्यपि इस प्रकार के तर्को में परमाणुवादी नही पडे

1. W.T Stace, CHGP, page 89
2. Theodor Gompertz, The Greek Thinkers, page 332
३- वही पृष्ठ ३३३

और शून्य की सत्ता सिद्ध करना कठिन समझते हुए भी परमाणुओ मे गति के लिए उन्होने शून्य प्रदेश की सत्ता स्वीकार कर ली ।[1]

परमाणुओं में गति

परमाणु आपस मे मिलकर ही किसी वस्तु की रचना कर सकते है। उनके मिलने के लिए उनमे गति उत्पन्न होनी चाहिए। शून्य प्रदेश होने के कारण परमाणुओ को गतिशील होने के लिए अवसर तो मिलता है किन्तु जड परमाणुओ मे गति कैसे पैदा हो ? इस समस्या को हल करने के लिए परमाणुवादियो ने परमाणुओ मे भार की कल्पना की। उन्हें गुरुत्वाकर्षण का ज्ञान नही था और वे यह भी नही समझते थे कि अनन्त शून्य प्रदेश मे ऊपर नीचे कुछ भी नही कहा जा सकता। व्यावहारिक अनुभव मे उन्होने देखा कि भारी वस्तुयें ऊपर से नीचे गिरती है। उनके गिरने का कारण बडा और भारी होना है। इसी के आधार पर उन्होने कहा कि बडे अश छोटे अशो की अपेक्षा भारी होते है। सब अणु एक ही तत्व के बने होने के कारण समान आकार के अणुओ मे समान वजन होता है। यदि एक अणु दूसरे से दोगुना बड़ा है तो उसका वजन भी दोगुना होगा।

इन दार्शनिको ने यह गलती की कि उन्होंने भारी अणुओं से गिरने की गति को अधिक माना और हलके अणुओ की गति कम। वस्तुतः हलके और भारी सभी अणु एक ही गति से गिरने चाहिए। शून्य अधर मे ऊपर नीचे दाये बाये का कोई प्रश्न नही है। अणुओ मे गति होने पर वे किसी भी ओर जा सकते है। भार और गिरने की कल्पना अवैज्ञानिक है।

फिर भी अणुवादी कहते है कि भारी अणु तेजी से गिरते है, हल्के अणुओ से टकराते है और उन्हे दाये बाये या ऊपर की ओर ठेल देते हैं। इसी प्रक्रिया मे अणुओ का भँवर बन जाता है। उसमे एक समान अणु एकत्र हो जाते है। वे आपस में मिल सकते हैं और सृष्टि बन जाती है। शून्य प्रदेश अनन्त होने के कारण और अणु निरन्तर गिरते रहने के कारण अनेक विश्व बन गये। उनमे से हमारा विश्व एक है।

इसके विपरीत जब अणु अलग होने लगते है तो जगत नष्ट हो जाता है सृष्टि के बनने और बिगडने का कारण मूल रूप मे अणुओ का भार ही है अणु के भार का प्रश्न विवादास्पद है। बर्नेट के मतानुसार अणुओ मे भार की कल्पना बाद के ऐपीक्यूरियन दार्शनिको ने की थी। डेमॉक्रिटस आदि तो यही समझते थे कि अणु अनिश्चित रूप से इधर उधर उडते हुए समान अणुओ से जु

1. Burtrand Russell, History of Western Philosophy p. 86.

जाते थे। "बाद मे एपिक्यूरसवादियो ने स्वीकार किया कि सभी परमाणु अनन्त आकाश मे सर्वदा नीचे की ओर गिर रहे है, परन्तु इस मान्यता के कारण वे यह समझने मे असमर्थ प्रतीत होते है कि ये परमाणु एक दूसरे से सम्पर्क मे कैसे आये। इस अवैज्ञानिक अवधारणा को प्रारम्भिक परमाणुवादियो पर आरोपित करने की आवश्यकता नही है जैसा कि हम देखेंगे प्रथमत: उन लोगो ने भार को परमाणुओं का प्राथमिक धर्म नही माना और दूसरे इस बात का प्रमाण मिलता है कि डेमॉक्रिटस ने कहा था कि अनन्त शून्य मे न ऊर्ध्व है न अध. न आदि है न मध्य।"[1] स्टेस ने बर्नेट के इस मत का खण्डन किया है। उनका कहना है कि यदि डेमॉक्रिटस अणुओ मे भार का सिद्धान्त नही मानता तो उनमे गति सिद्ध नही की जा सकती। थीली अणुओ मे भार का उल्लेख नहीं करते। वे कहते है कि जैसे अणुओ का कारण अन्य कुछ नही है वे स्वय सिद्ध है वैसे ही उनकी गति उनमे सदा मे विद्यमान है। उस गति का प्रेरक कोई अन्य तत्व नही है। अणु कभी स्थिर रहते ही नहीं है। रिक्त स्थान गति का कारण नहीं हो सकता। इसलिए गति को अणु का स्वाभाविक धर्म मानना चाहिए।[2]

एनेक्जागोरस ने भौतिक द्रव्य मे गति का कारण मनस् स्वीकार किया था। मनस् मे गति की आवश्यकता समझी गयी और उस आवश्यकता को पूरा करने के लिये उसने भौतिक द्रव्य मे गति उत्पन्न की। यह प्रयोजनवादी सिद्धान्त था। डेमॉक्रिटस ने कहा कि मनस् या कोई चेतन सत्ता जगत मे नही है। समस्त जगत का विधान प्रकृति के अंध यान्त्रिक नियम से चल रहा है। इसमे प्रयोजनवाद के लिये कोई अवसर नही है।[3] इसी आधार पर वह तत्कालीन प्रचलित धर्म और ईश्वर का भी खण्डन करता था।

कुछ आलोचक यह आरोप लगाते है कि डेमॉक्रिटस परमाणुओ मे गति का कारण नही बता सका। इन आलोचकों मे अरस्तू भी था किन्तु रसेल का मत है कि डेमॉक्रिटस अपने आलोचकों से अधिक बुद्धिमान था। सभी कारणो का अत मे एक कारण मानना पडता है। उसका कोई अन्य कारण नही होता यदि जगत का रचयिता ईश्वर माने तो वह भी अतिम कारण होगा। उसका कोई अन्य कारण नही बताया जा सकता। प्राचीन काल मे प्रतिपादित सभी सिद्धान्तो की अपेक्षा परमाणुवादियो का सिद्धान्त सबसे अधिक वैज्ञानिक है।[4]

---

१ जॉन बर्नेट, ग्रीक दर्शन, पृष्ठ १०३

2. Frank Thilly, A History of Western Philosophy p. 48

3. Theodor Gomperz, The Greek Thinkers, page 338

4. Bertrand Russell, History of Western Philosophy, p. 86

डेमॉक्रिटस के समय तक कार्य-कारण सिद्धान्त पर अधिक निर्णायक चिन्तन नहीं हुआ था फिर भी यह माना जाता था कि समस्त दशाओं का समुच्चय ही वह कारण है जिससे कोई घटना उत्पन्न होती है। वे दशायें किसी में अन्तर्निहित हो सकती है और बाहरी भी हो सकती हैं। यहाँ परमाणु और उसकी गति कारण है तथा पिण्डों का निर्माण उनका कार्य या परिणाम है। परमाणु में विद्यमान गति का गुण दो रूपों में दिखाई देगा, एक तो गति की शक्ति और दूसरे गति की दिशा। प्रो० गोम्पर्ज का मत है कि डेमॉक्रिटस ने गति रूप कारण का पहला रूप समझा और उस पर विचार किया किन्तु उसने दूसरे पर ध्यान नहीं दिया। उसने कहा कि परमाणु का मौलिक रूप गतिमय है, किन्तु वह यह न बता सका वे परमाणु किस दिशा में कितनी शक्ति से गति करते थे। उसने परमाणु में गति का गुण माना जिसमें परमाणु स्थानान्तरित होता था। वह किसी भी दिशा में गति करे उसमें कितनी ही शक्ति हो, उसका कोई महत्व नहीं था। गति होने मात्र से परमाणु किसी अन्य गतिमान परमाणु से टकरा और मिल सकता था।[1]

सृष्टि रचना

परमाणुवादी दर्शन में समस्त जगत और उसकी वस्तुओं की रचना परमाणुओं के आकार, बनावट और उनकी स्थिति पर निर्भर करती है। डेमॉक्रिटस समझता था कि चिकने गोल अणुओं से अग्नि बनी है। आत्मा भी चिकने गोल अणुओं से निर्मित है। यह शुद्ध और परिष्कृत अग्नि का ही विकसित रूप है। मरने पर आत्मा के अणु अलग होकर बिखर जाते है, इसलिए पुनर्जन्म का प्रश्न नही उठता।

परमाणु अनेक प्रकार के होते है। कुछ में हुक होते हैं, कुछ मे छिद्र, कुछ मे उभार होता है और कुछ में दाब। इसलिये ये अणु जब आपस मे मिलते है तो एक दूसरे से जुड जाते हैं और एक बड़ा पिण्ड बन जाता है। जुड़ते समय इन अणुओ के मध्य कोई रिक्त स्थान न रहने पर निर्मित वस्तु कठोर होती है और इसके विपरीत यदि रिक्त स्थान रहा तो निर्मित वस्तु हल्की और पोली रहती है।[2]

परमाणुओं के मिलने पर जब सृष्टि निर्माण होता है तो भारी और घने पिण्ड मध्य में आ जाते है। इस प्रकार पृथ्वी अपना रूप धारण कर लेती है। उसके बाद उनसे कुछ हल्के अणु जल की उत्पत्ति करते हैं। वह पृथ्वी पर एकत्र हो जाता है। उनसे भी हल्के अणु वायु बन कर पृथ्वी और जल को घेर लेते हैं।

1 Theodor Gompertz, The Greek Thinkers Page 342
2. Theodor Gompertz,The Greek Thinkers,Page 334

सबसे हल्के अणु आकाश मे व्याप्त अग्नि और ईश्वर की रचना करते है । इसी क्रम से अगणित ससार उत्पन्न होते है। उनमे से कुछ हमारे ससार से छोटे हैं और कुछ बडे। कुछ पृथ्वी मण्डलो के साथ सूर्य और चन्द्र है, कुछ के साथ नही है।

आत्मा की उत्पत्ति भी सृष्टि के अन्तरगत होती है। जैसे अन्य वस्तुयें बनती और बिगडती है, वैसे ही परमाणुओ का अधिक विकसित और परिमार्जित रूप आत्मा है और परमाणुओ के पृथक होने पर उसका भी नाश हो जाता है। तात्पर्य यह है कि परमाणु और शून्य प्रदेश तो सत्य और नित्य है, शेष उनसे उत्पन्न होने वाली वस्तुयें परिवर्तनशील, विकारी और नश्वर है।

प्रो० गोम्पर्ज के अनुसार डेमॉक्रिटस ने परमाणुओ के मिलने का एक नियम माना है उसने अपने पूर्वगामी दार्शनिक एम्पेडोक्लीज का यह मत किसी अश मे स्वीकार किया कि विश्व मे एक समान वस्तुयें आपस में आकृष्ट होती हैं। किन्तु उसने इस नियम को अन्तिम नही माना । उसने इसका कारण भी खोजने का प्रयास किया। उसने भौतिक जगत मे निरीक्षण के द्वारा पाया कि पृथ्वी के उड़ते हुए कण अन्त मे पृथ्वी मे ही मिल जाते है और जल के कण जल मे मिलते है। इसका कारण यह है कि समान आकार और परिमाण के अशो मे प्रतिक्रिया करने की समान शक्ति होती है समद्र के किनारे लहरे पत्थर के टुकडे इकट्ठे करती है। लम्बे टुकडे एक स्थान मे और बडे टुकड़े दूसरे स्थान पर पहुंचते है।[1]

भिन्न प्रकार के अणुओ के छटने और एक साथ इकट्ठे होने मे चक्रक सिद्धान्त सहयोगी होता है। परमाणुओं की झरती हुई एक शृंखला जब निकट की दूसरी शृंखला से टकराती है तो उसका प्रभाव निकट की अन्य शृंखलाओ पर भी पडता है जिसके फलस्वरूप एक समान अश घूमते हुए एक साथ एकत्र होकर एक दूसरे के हुकों और छिद्रों से जुडकर पिंड का रूप धारण कर लेते है। इसी कारण ऊपर वर्णित विधि से पृथ्वी जल आदि के पिण्ड बन जाते है।

चक्रकसिद्धान्त की उद्भावना एनेक्जागोरस और एम्पेडोक्लीज ने ही कर ली थी, किन्तु सृष्टि रचना मे उसका सम्यक् प्रयोग डेमॉक्रिटस ने ही किया।[2] उसे इस दिशा मे विचार करने की प्रेरणा वात्याचक्र से मिली। उसने देखा कि तीव्र वायु चलने पर उसके साथ धूल आदि के हलके कण उडने लगते है। वह वायु जब विपरीत दिशा से आती वायु से टकराती है तो वह एक चक्ररूप धारण कर लेती है। उस चक्र के केन्द्र मे कुछ लकडी आदि के भारी टुकडे एकत्र हो

1. Theodor Gompertz, The Greek Thinkers Page,336
२ वही पृष्ठ ३३७

जाते हैं वे वहाँ स्थिर होते हैं। हलके अंश वायु के साथ चारों ओर चक्राकार घूमते हैं। डेमॉक्रिटस ने निश्चय किया कि इसी प्रकार आदि काल मे पृथ्वी आदि के पिण्ड बने थे।[1]

डेमॉक्रिटस का अनुमान था कि पृथ्वी डिस्क के समान गोल है और बीच मे किसी पात्र के समान पचकी है। इसी कारण सूर्य भिन्न-भिन्न समय मे भिन्न-भिन्न स्थानो मे निकलता और डूबता है। सूर्य और चन्द्र भी दो तारे है जो हमारी पृथ्वी के निकट है और इसी के साथ घूमते है।[2]

आत्मा और ज्ञान

आत्मा की उत्पत्ति बहुत छोटे, गोल, चिकने अणुओं से हुई है। वह अग्नि से भी अधिक सूक्ष्म है। वह समस्त शरीर में व्याप्त रहता है और उसे तप्त तथा जीवित रखता है। शरीर के प्रत्येक दो अणुओं के बीच मे एक अणु आत्मा का होता है और वह गति उत्पन्न करता है। शरीर के कुछ भागों मे मानसिक क्रियायें होती हैं। मस्तिष्क में विचार उत्पन्न होते है, हृदय में क्रोध और यकृत मे कामना उत्पन्न होती है। कोई जीवित प्राणी हो या जड वस्तु, बाहरी वातावरण के दबाव से उसकी रक्षा आत्मा ही करता है।

हम श्वास के साथ आत्मा के अणु ग्रहण करते हैं। जब तक श्वांस चलती है, हम जीवित रहते है। मरने पर आत्मा के अणु बिखर जाते है। आत्मा का पात्र टूट जाने पर आत्मा बहकर बिखर जाता है। इस प्रकार डेमॉक्रिटस ने भौतिकवादी मनोविज्ञान का अपरिमार्जित रूप प्रस्तुत किया।

इन्द्रिय ज्ञान की प्रक्रिया भी डेमॉक्रिटस ने खोजी थी। वह कहता है कि दृश्य वस्तुओं से उसकी आकृतियाँ, छायायें या मूर्तियाँ निकलती हैं। वे वायु के माध्यम से सब ओर फैलती है और इन्द्रियों तक पहुँचती हैं। इन्द्रियों के द्वारा उनका प्रभाव आत्मा पर पड़ता है। इस विधि से आत्मा उन आकृतियों या बिम्बो को पाकर वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेती है। आकृतियाँ भी अणुओ से निर्मित होती है।

किसी वस्तु की आकृतियाँ प्रसरण करती हुई जब वायु के माध्यम से आगे बढती हैं उनका प्रभाव निकट की अन्य वस्तुओं पर पडता है। उस वस्तु के अणु पुन निकट की अन्य वस्तु के अणुओं को प्रभावित करते है। इस प्रकार उनका प्रभाव क्रमश: बढते हुये इन्द्रिय तक पहुँचता है। इस बीच यदि ज्ञेय वस्तु की आकृति

1. वही, पृष्ठ ३३६
2. Edward Zeller Outline of the History of Greek Philosophy page 67

मध्य मे स्थित वस्तुओं के अणुओ से विकृत हो जाती है तो आत्मा को उस वस्तु का यथार्थ ज्ञान नही होना। भ्रम होने का यही कारण है। यदि वस्तु की आकृति अविकृत रूप में इन्द्रिय तक पहुँचती है और आत्मा उसे अविकल स्थिति मे गृहण कर लेता है तो वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है।

इस ज्ञान प्रक्रिया का दूसरा नियम यह है कि ज्ञेय वस्तु का आकृतियाँ और ज्ञाता इन्द्रिय की आकृतियाँ जब एक समान होती है तभी उनका ज्ञान होता है। यही कारण है कि रूप की आकृतियाँ नेत्र गृहण करते हैं, शब्द की आकृतियाँ कान गृहण करते हैं, आदि।

वस्तुओ से उत्पन्न होने वाली आकृतियाँ ही स्वप्न, भविष्य दर्शन और देवताओं का विश्वास भी उत्पन्न करती है।

डेमॉक्रिटस की यह भी धारणा है कि गुण दो प्रकार के है–कुछ मौलिक और अन्य सृजित। परमाणु की अविभाज्यता और आकार उसका मौलिक गुण है। शब्द रूप, रस, गंध और स्पर्श मौलिक गुण नही है। ये परमाणुओ के एकीकृत होकर हमारी इन्द्रियों पर प्रभाव डालने से उत्पन्न होते है।[1] इसलिए इन्द्रियों से सत् का ज्ञान नही होता वरन् द्वितीय कोटि के उत्पन्न हुये गुणो का ही ज्ञान होता है। हम वस्तुओ को उतना ही जान पाते है जितना वे हमारे ऊपर प्रभाव डालती है। हमारी दृष्टि परमाणुओ तक नहीं पहुँचती। उन तक हम विचार द्वारा पहुँचते है। विचार इन्द्रिय सीमा के आगे जा सकता है। यथार्थ ज्ञान विचार द्वारा ही मिलता है। इस प्रकार हम देखते है कि डेमॉक्रिटस भौतिकवादी होते हुए भी इन्द्रिय ज्ञान को अतिम और प्रामाणिक ज्ञान नही मानता। वह तर्कबुद्धिवादी (रेशनलिस्ट) है। यह प्रवृत्ति सभी प्राचीन यूनानी दार्शनिको मे मिलती है।

तर्कबुद्धि से प्राप्त ज्ञान स्वतन्त्र नही समझना चाहिए। वह इन्द्रिय ज्ञान के आधार से ही आगे बढता है किन्तु जहाँ इन्द्रिय ज्ञान की सीमा समाप्त हो जाती है, वह उसके आगे भी जाता है। यह भी कह सकते हैं कि इन्द्रियो से केवल स्थूल ज्ञान होता है सूक्ष्म वस्तु का ज्ञान विचार से प्राप्त होगा। आत्मा का सबसे उच्च कार्य विवेकविचार ही है। वस्तुत. आत्मा और तर्कबुद्धि एक ही है।

कोई विचार तभी सत्य होता है जब आत्मा का ताप सम होता है।[2] इस प्रकार डेमॉक्रिटस ने मनुष्य और उसके विकास का गहन अध्ययन किया। उसने सभ्यता के विकास का प्रश्न भी उसी के साथ जोड़ा। मनुष्य के जीवन मे प्रगति

---

1. Edward Zeller, Outlines of the History of Greek Phil p. 66
2 Edward Zel er Outl nes of the History of Greek Ph losophy p 67

का मूल स्रोत उसे 'आवश्यकता' दिखाई दी । वन्य पशुओं से अपनी सुरक्षा हेतु मनुष्य ने अपना समाज बनाया । एक दूसरे को समझने के लिए उसने भाषा की रचना की । अग्नि का उपयोग कर वह पशुओं से श्रेष्ठ बन गया ।[1]

ईश्वरवाद

डेमॉक्रिटस तत्कालीन प्रसिद्ध देवताओं की सत्ता भी स्वीकार करता है, किन्तु वे भी मनुष्य की तरह भौतिक उत्पत्ति हैं । देवताओ की रचना अणुओ से हुई है । अणुओ के पृथक होने पर उनका नाश भी हो जायगा । देवता मनुष्य की अपेक्षा अधिक काल तक जीवित रहने वाले हैं, किन्तु अमर नही है । वे मनुष्य से अधिक शक्तिशाली और अधिक विचारवान भी है । उनका ज्ञान महान है ।

मनुष्य को देवताओं का ज्ञान स्वप्न या मानसिक एकाग्रता की दशा मे हो सकता है । वे हमारे कार्यों में बाधक नही है, इसलिए उनसे डरने की आवश्यकता नही । ईश्वर की सत्ता होते हुये भी वह सृष्टि रचना मे दखल नही देता है । इस प्रकार की मान्यता के पीछे यह भाव दिखाई देता है कि डेमॉक्रिटस ईश्वर और देवता सम्बन्धी तत्कालीन मान्यता का विरोध करने का साहस नही करता, किन्तु वह अपने दर्शन मे उनका बहुत कम प्रयोग करता है ।

नीतिशास्त्र

डेमॉक्रिटस नैतिक नियमो को महत्व देता है । इन नियमो का निर्माण तर्कबुद्धि से हो सकता है । नैतिक नियमों का उद्देश्य उच्च स्तर का सुखी जीवन प्राप्त करना है । उसके सुख का अर्थ शारीरिक या इन्द्रिय सुख मात्र नही है । मनुष्य मानसिक सन्तोष, शान्ति और स्वतन्त्रता भी चाहता है । नैतिक जीवन जीने से उनकी भी प्राप्ति होती है ।

मनुष्य जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य सुख ही है, किन्तु इस सुख का रूप आन्तरिक सन्तोष, मानसिक शान्ति, सबसे सामजस्य और निर्भयता है । इस प्रकार का सुख धन या सम्पत्ति से प्राप्त नही होता । शारीरिक या विषय सुख क्षणिक है, पीड़ा दायक है और उनकी पुनरावृत्ति करनी पडती है । वास्तविक सुख जीवन को सयमित और सन्तुलित रखने से ही प्राप्त होता है । हमारी कामनाये जितनी कम होगी हमे उतना ही कम निराश होना पड़ेगा । सुख का लक्ष्य प्राप्त करने का सबसे उत्तम उपाय यह है कि हम अपनी बुद्धि का प्रयोग अधिक करें और सुन्दर कार्यों का चिन्तन करें ।

हमारे सुख की वृद्धि करने वाले सभी गुण नैतिक है । न्याय और दया सर्वोच्च गुण है । हमें दण्ड के डर से नहीं वरन् अपने कर्त्तव्य की भावना से शुभ

---

१. वही, पृष्ठ ६८

कार्य करने चाहिए। चरित्रवान बनने के लिय अशुभ कर्म के त्याग के साथ अशुभ कामना का भी त्याग करना होगा। ईर्ष्या, घृणा और द्वेष अशांति उत्पन्न करने वाले दुर्गुण है। डेमॉक्रिटस ने अपने अनुभव से बहुत सी जीवन उपयोगी कहावते गढी थी, जैसे स्वच्छ शासन हमारी सबसे बड़ी सुरक्षा है। राज्य के भ्रष्ट होने पर सब कुछ नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते है कि डेमॉक्रिटस का नीति-सिद्धान्त भौतिकवादी सुखवाद है, किन्तु परिमार्जित और परिष्कृत है। उसका आदर्श खाओ, पियो और मौज करो नही है। स्टेस के अनुसार डेमॉक्रिटस की नैतिकता अणु सिद्धान्त पर निर्भर नही है। अत. उसका कोई वैज्ञानिक आधार नही है।[1] प्रो० जेलर के अनुसार डेमॉक्रिटस का नीतिशास्त्र आदर्शवादी है। जैसे इन्द्रियानुभव से तर्कबुद्धि श्रेष्ठ है वैसे ही इन्द्रिय सुख से मन की शान्ति का सुख उत्कृष्ठ है।[2]

मूल्यांकन

परमाणुवाद पर टिप्पणी करते हुए प्रो० गोम्पर्ज लिखते है "परमाणुवादी सिद्धान्त न प्राचीन काल मे और न वर्तमान युग मे कभी भी प्रामाणिक सिद्ध नही हुआ है। यह जगत का सुनिश्चित सिद्धान्त कभी नही बन सका। यह एक प्रकल्पना ही है, फिर भी इसमे अतुलनीय शक्ति और दृढ़ता है। इसने भौतिक और रासायनिक अनुसधानो मे विज्ञान की बडी मदद की है।"[3]

परमाणुवाद का आधारभूत सिद्धांत यही था कि परमाणु अविभक्त है और उसमे कुछ भी प्रवेश नही कर सकता। वह ठोस है। आधुनिक विज्ञान ने इस सिद्धान्त का खण्डन कर दिया है। अब परमाणु विभाज्य हो गया है। उसका मूल रूप ऊर्जा है। यदि वैज्ञानिक परमाणुवादियो के इस मत पर आश्रित रहते कि परमाणु अविभाज्य है तो वे परमाणु विस्फोट की न खोज कर पाते और न उसमे निहित ऊर्जा का लाभ उठा पाते।

परमाणुवाद सब प्रकार से भौतिकवादी दर्शन है। इसके अनुसार मूलतत्व भौतिक है और वह ज्ञेय है। शरीर के नष्ट होने पर चेतना की सत्ता न रह जाने के कारण भी यह भौतिकवाद है। आत्मा की रचना परमाणुओं से होती है, यह मानने के कारण भी यह भौतिकवाद है। किन्तु प्रो० गोम्पर्ज के मतानुसार डेमॉक्रिटस देवताओ की सत्ता मानकर भौतिकवाद की कठोरता त्याग देता है।[4]

---

1. W. T Stace, CHGP, page 92
2. Edward Zeller, OHGP, page 68
3. Theodor Gompertz, The Greek Thinkers, page 353
४: वही, पृष्ठ ३५५

८

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में भौतिकवादी प्रवृत्तियां

डेमॉक्रिटस के भौतिकवादी सिद्धान्तों की दुर्बलता ने सुकरात और प्लेटो को प्रत्ययवाद की ओर जाने के लिए प्रेरित किया। डेमॉक्रिटस के अगणित परमाणु रूप सत् ने प्लेटो के दर्शन मे अपना भौतिक रूप त्याग कर अगणित प्रत्यय रूप सत् स्वीकार कर लिया। इस प्रकार स्थिति बिल्कुल विपरीत हो गई। उसके दर्शन मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण बदल कर आध्यात्मिक हो गया। जगत का मूल कारण चेतन तत्व हो गया और जगत उसकी छाया। इस प्रकार प्लेटो प्रत्ययवादी दर्शन के जनक के रूप में सामने आया।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने अपने गुरु के द्वारा प्रतिवादित प्रत्ययवादी सिद्धान्त तो स्वीकार किया किन्तु उन्हें लोकातीत न मानकर भूत पदार्थ के साथ एक कर दिया। उसने कहा कि वस्तुओं के आकार वस्तु से पृथक नहीं वरन् उनके साथ एक है। भूत पदार्थ असत् या प्रतीति मात्र नहीं है। वह विभिन्न आकार धारण कर अनेक प्रकार की वस्तुये बन जाता है। यह वस्तु जगत सत् है और विज्ञान के अध्ययन का विषय है। अरस्तू ने जगत का वैज्ञानिक अध्ययन किया और उसके लिए वैज्ञानिकों को प्रोत्साहित किया।

अरस्तू ने डेमॉक्रिटस के परमाणु रूप सत् और प्लेटो के प्रत्यय रूप सत् को मिला दिया। उसके अनुसार ये दोनों पृथक नहीं है। प्रत्यय या वस्तु का रूप अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता। वह भूत पदार्थ के साथ ही रहता है। हमारे दृश्य पदार्थों का मूल तत्व भी प्रयोजन रहित गतिवान वस्तु नहीं हो सकता। इसलिए उसे गति प्रदान करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता है। अरस्तू के अनुसार ईश्वर शुद्ध आकार या प्रत्यय है। मनुष्य की तर्क बुद्धि ईश्वर का ही एक अंश है।

इस प्रकार अरस्तू ने यद्यपि प्लेटो के प्रत्ययवादी दर्शन को भौतिकवादी बनाने का प्रयास किया किन्तु डेमॉक्रिटस के परमाणुवाद के समतुल्य वह अधिक भौतिकवादी न हो पाया। भूतपदार्थ की स्वतन्त्र सत्ता मानते हुए भी उसे

प्रत्यय रूप ईश्वर से स्वतन्त्र नहीं कर सका।

प्लेटो और अरस्तू के बाद दर्शन में बहुत समय तक उल्लेखनीय विकास नही हुआ। नये दार्शनिक इन्ही दो दार्शनिकों में से किसी का पक्ष ग्रहण कर कुछ हेर-फेर के साथ अपने विचार प्रस्तुत करते रहे। ऐपीक्यूरस ने डेमॉक्रिटस का भौतिकवादी दर्शन पुन जीवित किया और उसके बीजरूप नीतिशास्त्र को पल्लवित और विकसित किया। उसके दार्शनिक चिन्तन का उद्देश्य सुखमय जीवन का मार्ग खोजना था। मनुष्य के सुख मे वृद्धि न करने वाले दर्शन, गणित, ज्योतिष, संगीत आदि सभी विद्यायें मूल्यहीन है।

सुख के लिए नैतिकता और नैतिकता के लिए मनुष्य मे कर्म स्वातत्र्य की आवश्कयता है। इस हेतु एपीक्यूरस परमाणुओ में भी निश्चित गति से हटने की स्वतंत्रता मान लेता है। अणु ऊपर से नीचे गिरते है किन्तु एक धार नीचे गिरते रहने से कोई रचना सम्भव नही है। अतः वे अपने पथ से हटकर अन्य अणुओ से टकराते है और सृष्टि रचना करते है। एपीक्यूरस की उद्भावना से प्रकृति की यांत्रिकता मे बाधा आ गयी।

इसका तात्पर्य यह है कि यूनानी दार्शनिको मे सब से अधिक भौतिकवादी डेमॉक्रिटस ही हुआ। उसके बाद मध्यकालीन क्रिश्चियन दर्शन मे भौतिकवादी दर्शन के विकास की कोई सम्भावना न थी। मध्ययुग में धर्म का बोलबाला था और उसने जीवन के हर क्षेत्र मे अपना प्रभाव डाल रखा था। उस समय दर्शन अपना स्वतन्त्र विकास मार्ग छोडकर धर्म को तर्कसंगत सिद्ध करने की सेवा मे लग गया था। मध्ययुगीन दार्शनिको ने सवेदात्मक जगत की अलग-अलग वस्तुओ तथा सामान्य प्रत्ययों के बीच सह सम्बन्ध खोजने का प्रयास किया।

प्रत्ययवादियो का दावा था कि सामान्य प्रत्यय विभिन्न व्यष्टि प्रत्ययो से स्वतन्त्र है तथा उनसे पूर्व विद्यमान है। सामान्य प्रत्यय का सम्बन्ध ईश्वर से है। पृथक् वस्तुये ईश्वर की रची हुई है। ईश्वर का अस्तित्व प्रदर्शित करने के लिए टॉमस अक्विनास (१२२५-१२७४) उसकी सकल्पना नही करते। वे विचार की पहली सीढी मे कहते है कि प्रत्येक घटना का अपना कोई कारण होता है। उस कारण का पुनः कोई कारण होता है। इस प्रकार हम अन्त मे ईश्वर तक पहुंचते हैं जो सब कारणों का कारण है। वही समस्त वास्तविक प्रक्रियाओं और घटनाओ का सर्वोच्च कारण है।

पश्चिम मे दर्शन का आधुनिक युग सोलहवी शताब्दी से प्रारम्भ होता है। उस समय वहा उद्योग और व्यापार का विकास हो रहा था। दार्शनिक भी तत्कालीन स्थिति से प्रभावित होकर अपने आस-पास के जगत के नियमों की ठोस जानकारी के लिए प्रकृति के नियम समझने का प्रयास करने लगे। उन्होंने दर्शन

को एक ऐसा विज्ञान माना जिसका उद्देश्य ऐसे सत्य को प्रमाणित करना था जो जन साधारण के दैनिक जीवन मे सहायता दे और भौतिक मूल्यो की रचना मे सहायक हो।

फ्रँसिस बैकन (१५६१-१६२६) के दर्शन मे यही प्रवृत्ति मिलती है। उन्होने प्राचीनकाल तथा मध्यकाल के समस्त प्रत्ययवादी दर्शन की आलोचना की। उसकी मान्यताओं को उन्होने थोथा और अर्थहीन सिद्ध करने का प्रयास किया। उसका यह कथन प्रसिद्ध है—"ज्ञान ही शक्ति है"। उसके दर्शन का आधार व्यावहारिक है। वह दर्शन को ईश्वरवाद से पृथक रखने के पक्ष मे था। ईश्वरवाद का आधार विश्वास और दर्शन का आधार विचार है।

यद्यपि बैकन ने विज्ञान को आधार बना कर अपने दर्शन की रूपरेखा तैयार की किन्तु उसे तत्कालीन वैज्ञानिक प्रगति का पूरा ज्ञान नही था। उस समय तक जो विज्ञान के अनुसंधान हो चुके थे उन्हें जानने का उसने प्रयास नही किया। फिर भी उसकी मान्यता थी कि भौतिक जगत का न आदि है न अन्त। उसका सदा मे अस्तित्व रहा है और सदा रहेगा। गति उस अनन्त अस्तित्वमान द्रव्य का एक मुख्य गुण है यद्यपि वह भूतद्रव्य के कुछ ही रूपो तक सीमित है। यह जगत उसी गति से यांत्रिक रूप मे चल रहा है।

बैकन के भौतिकवादी दृष्टिकोण का विकास टॉमस हाब्स (१५८८-१६७६) ने किया। उसका विचार था कि भौतिक द्रव्य के दो मूल गुण हैं-विस्तार और आकृति। गति के अनेक रूप हैं किन्तु वे सब यान्त्रिक गति के अन्तर्गत आ जाते हैं। किन्तु उन्होंने गति को देश में एक स्थान-परिवर्तन मात्र माना। उनके मतानुसार सज्ञान की वैज्ञानिक पद्धति गणितीय है। वह जोडने-घटाने जैसी प्रक्रिया पर निर्भर है।

हाब्स के भौतिकवादी मत मे ईश्वर के लिए कोई स्थान न रह गया। वे धर्म और ईश्वर के विश्वास की उत्पत्ति अज्ञान और भविष्य के भय से मानते थे। इसलिए उनकी अवधारणा अवैज्ञानिक है। फिर भी उसका इतना व्यावहारिक उपयोग है कि उस विश्वास मे बधे लोग अपने को सयम मे रखते हैं। हाब्स के लिए ईश्वर धार्मिक श्रद्धा का विषय है। दार्शनिक ज्ञान का विषय ईश्वर नहीं हो सकता। उनके अनुसार दार्शनिक ज्ञान के लिए केवल भौतिक पदार्थ ही है। अतः जगत के विषय मे भौतिकवादी दृष्टिकोण ही उचित है। इस प्रकार हम देखते है कि हाब्स का भौतिकवाद डेमोक्राइटस के नजदीक है। विश्व मे केवल दो ही तत्व है—भौतिक द्रव्य और गति। ससार मे जो कुछ भी घटित होता है वह इन्ही दोनो तत्वों की सहायता से समझा जा सकता है। किसी अभौतिक आत्मा का अस्तित्व नही है

जब कभी दार्शनिकों ने इस प्रकार अनीश्वरवाद का प्रतिपादन किया और जीवन की उत्पत्ति जड द्रव्य से सिद्ध करने का प्रयास किया तो वे कठिन समस्या मे पड गये और उनके बाद के दार्शनिकों को चेतन तत्व की स्वतन्त्र सत्ता मानने के लिए बाध्य होना पडा। हाब्स के बाद देकार्त ने भी यही किया।

रेने देकार्त (१५६३–१६५०) ने भौतिकवादी दृष्टिकोण बनाये रखने का पर्याप्त प्रयास किया। उसने दावा किया ज्ञान-मीमासा के सिद्धान्त गणित के समान सर्वमान्य बनाये जा सकते है जिसमें व्यक्तिगत मतों को कोई स्थान नही है। गणित के समान कुछ स्वयं सिद्ध नियम लेकर उन्ही से अन्य नियम निकाले जा सकते हैं। वे सब सुनिश्चित होंगें। ज्ञान-मीमासा का मूल सिद्धान्त खोजते हुए वह सर्वत्र सशय करता है और अन्त मे उसे संशय करना या विचार करना ही एक ऐसा तथ्य दिखाई देता है जिसमे सशय नहीं हो सकता। इसलिए उसका मूल सिद्धान्त यह निकला कि 'कागिटो, अरगो सम- - मै विचार करता हूँ, अतः मै हूँ'। इसी के आधार पर वह अन्य सिद्धान्त निर्मित करता है।

हम अपने अस्तित्व को निर्विवाद रूप में अनुभव करते है, किन्तु अपने को अपूर्ण और अल्पज्ञ भी पाते हैं। इसलिए एक ऐसी सत्ता मानने के लिए हम बाध्य होते है जो स्वय सिद्ध हो किन्तु पूर्ण हो। उस सत्ता को ही हम ईश्वर कहते हैं। इस तर्क से देकार्त ईश्वर का अस्तित्व मानता है और सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सब का आदि कारण निर्धारित करता है।

जो वस्तु अपनी सत्ता से स्वतंत्र रूप मे विद्यमान रहे, वह द्रव्य है। ऐसा द्रव्य एक ईश्वर है। वह निरपेक्ष है। उससे उत्पन्न दो सापेक्ष द्रव्य हैं – मन और भूत पदार्थ। ये दोनों ईश्वर पर निर्भर हैं। भूत पदार्थ हमारे मन की रचना या कल्पना नही है। वह हमारे मन से पृथक और स्वतंत्र है। भूत पदार्थ का वास्तविक गुण विस्तार है। उसकी लम्बाई, चौडाई और मोटाई ही उसका विस्तार है। विस्तार और भूत पदार्थ एक है। यह विभाज्य है। इसके विभाजन का कही अन्त न होने के कारण परमाणुवाद की स्थापना नही होती है। अणो के मिलने से वस्तुओं और उनके विभिन्न गुणों का उद्भव होता है। इसके लिए गति की आवश्यकता होती है।

भूत पदार्थ मे गति ईश्वर की दी हुई है। वह एक निश्चित मात्रा में है। वह नष्ट नहीं होती और उसी से विश्व मे परिवर्तन और विकास होता रहता है। यह चाभी देकर घडी चलाने जैसी यांत्रिकता है। देकार्त गति और प्रकृति के नियमों में भेद नहीं करता

मन का लक्षण विस्तार नही है। इसलिए वह भूत-पदार्थ नही है। मन मे विचार की क्रिया होती है और वह स्वतन्त्र है। भूत पदार्थ में विचार-क्रिया नही होती। इस भेद के कारण विचार करने वाला मैं और मेरा भौतिक शरीर दो पृथक सत्तायें है। देकार्त के अनुसार यह मन ही चेतना है। मनुष्य मे मन और भूत पदार्थ (शरीर) दोनों हैं किन्तु शरीर का संचालन यांत्रिक गति से होता है। मन शरीर को सचालित नही कर सकता। फिर भी दोनो के सहयोग और संयोग से भूख-प्यास, राग-द्वेष, पीडा, रग, प्रकाश, ध्वनि आदि का अनुभव होता है।

देकार्त की दार्शनिक स्थिति की व्याख्या करते हुए थीली लिखते है कि उसमें आधुनिक विज्ञान के यांत्रिक सिद्धान्त और क्रिश्चियन धर्म के ईश्वरवाद का समन्वय किया गया है।[1] इतना होते हुए भी वह द्वैतवाद से नही बचा। इस समस्या के समाधान के प्रयास मे बैंनेडिक्ट स्पिनोजा (१६३२-१६७७) ईश्वरवाद के के बजाय सर्वेश्वरवाद का समर्थन करने लगा। देकार्त के सिद्धान्त मे ईश्वर मन और भूत पदार्थ से ऊपर और अलग था, किन्तु स्पिनोजा के मत मे मन और भूतपदार्थ मे व्याप्त होकर उससे अभिन्न हो गया। मूल द्रव्य ईश्वर है और मन तथा भूत पदार्थ उसकी विशेषताये (एट्रीब्यूट) हैं। द्रव्य एक अनन्त सर्वव्यापक है और उसमे भेद उसकी विशेषताओं का हैं। सभी गुण, लक्षण, घटनायें, गतियाँ आदि ईश्वर पर निर्भर हैं। जड़ और चेतन के लक्षण एक दूसरे पर प्रभाव नही डालते, वरन् दोनों की गतियाँ पृथक रूप से होती हैं। इन गतियों में समरूपता होने पर ऐसा प्रतीत होता है मानों वे एक दूसरे के प्रभाव के कारण हैं। जहाँ कही भी भूत पदार्थ है वहाँ मन या आत्मा भी है। द्रव्य रूप ईश्वर के यो दोनों गुण नित्य हैं। जगत की समस्त वस्तुयें सीधे ईश्वर से उत्पन्न नही हैं। प्रत्येक सीमित वस्तु का सीमित कारण है और उसका कारण पुन दूसरा है। अंतिम कारण ईश्वर है। वह सभी वस्तुओ का आदि कारण है।

स्पनोजा का यह ईश्वरवाद लॉक से होकर बर्कले में आत्मगत प्रत्ययवाद बन गया। डेविड ह्यूम (१७११-१७७६) इस निर्णय पर पहुँचा कि हम अपने अन्दर प्रत्ययों के अतिरिक्त कुछ नही पाते। हमारे प्रत्ययों में जो कुछ अनुभव उत्पन्न हो रहे हैं हमारा ज्ञान उसी तक सीमित है। हम किसी परम तत्व, द्रव्य, मूल कारण, अह, आत्मा या बाहरी जगत और उसकी वस्तुओं को नही जान सकते। इस प्रकार उसका दर्शन अज्ञेयवादी है।

देकार्त से प्रारम्भ होने वाली चिन्तन धारायें दो थी। एक धारा उसके मनस् को प्रधानता देकर ह्यूम के अज्ञेयवाद तक पहुँची जिसका उल्लेख हम

1 Frank Th ly A H story of Ph losophy p 315

पहले कर चुके हैं। दूसरी धारा उसके भौतिकतत्व को महत्व देकर उसी ओर झुकती चली गयी और उसने मनस् को भूतपदार्थ के अधीन कर दिया। प्रो थीली कहते हैं कि भौतिकवादी दृष्टिकोण अठारहवी शताब्दी मे इग्लैण्ड और फ्रांस मे विकसित हुआ।[1] अन्त मे वह प्रबुद्ध लोगो का प्रसिद्ध दर्शन बन गया। जॉन टोलेण्ड (१६७०–१७२१) ने सिद्ध किया कि विचार मस्तिष्क की एक विशेष प्रकार की क्रिया है। इनके अनुसार जड़तत्व शक्तिरूप है। विस्तार और अभेद्यता और गति जड के गुण है। चेतना भौतिक शक्ति का रूप विशेष ही है क्योंकि चेतना मस्तिष्क का धर्म है। डेविड हर्टले (१७०४-१७५७) ने कहा कि सभी मानसिक कार्य मस्तिष्क मे उत्पन्न होने वाली तरगों पर निर्भर करते है। किन्तु वह मस्तिष्क की क्रिया को ही मन नही मान सके। कुछ ही वर्षों बाद आक्सीजन की खोज करने वाले जॉसेफ प्रीस्टले (१७३३–१८०४) ने साहसपूर्वक कहा कि मस्तिष्क की गति ही मानसिक क्रिया है। इस प्रकार उसने मनस और भूतपदार्थ के द्वैत की समस्या भौतिकवाद के क्षेत्र मे लाकर हल की। फिर भी विडम्बना यह है कि वह ईश्वरवादी और क्रिश्चियन मत का भी समर्थक बना रहा। इस दोष को जर्मन दार्शनिक बेरन द होल्बेक (मृत्यु १७८६) ने दूर किया। उसके अनुसार भूतपदार्थ की गति ही प्रकृति के नियम है। आत्मा की कोई सत्ता नही है, विचार मस्तिष्क की ही क्रिया है और केवल भूतपदार्थ ही अविनाशी है। प्रकृति के बाहर ईश्वर या चेतना जैसी कोई सत्ता नहीं है। मनुष्य के सकल्प भी प्रकृति से नियमित है।

उसी शताब्दी में रूस के कुछ विद्वान भी भौतिकवादी दर्शन का विकास कर रहे थे। उनमे से मुख्य थे मिखाईल लोमोनोसोव (१७११-१७६५) तथा अलेक्सान्द्र रदीश्चेव (१७४९-१८०२)।[2] "लोमोनोसोव ने प्राकृतिक विज्ञानों की आधार सामग्री के उपयोग से दार्शनिक प्रस्थापनाओं को विद्वतापूर्ण ढंग से प्रमाणित किया। उन्होंने दर्शन के बुनियादी सवाल का भौतिकवादी उत्तर दिया। उनका दावा था कि सारे पिंडों तथा तथा घटनाओं की प्रकृति भौतिक है। उन्होंने कहा कि भूतद्रव्य परमाणुओं से बना है जो आपस मे जुड़कर अणुओं और कणिकाओं की रचना करते हैं और इन्ही से सारे संवेदक पिडो का निर्माण होता है।"

ये दोनों भौतिकवादी और प्रत्ययवादी चिन्तन धाराये उन्नीसवी शताब्दी मे अति की ओर बढती गयी। प्रत्ययवादी या चेतनवादी दार्शनिक कान्ट, हेगेल, ब्रेडले आदि हुये। हेगेल ने द्वन्द्वात्मक पद्धति से विश्व की प्रत्ययवादी व्याख्या की। काल मार्क्स का उससे सीधा विरोध था। इसलिए हम उसके विचारों का

1. Frank Thilly, A History of Philosophy p. 405

२ वसीली क्रापीविन द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद क्या है ? पृष्ठ ७०

उल्लेख यथास्थान आगे करेंगे। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि उसके अनुसार विश्व का सार और आधार एक परम प्रत्यय या आत्मा है। वह मनुष्य से परे अपनी स्वतन्त्र सत्ता से विद्यमान है। वही मनुष्य की तर्क बुद्धि के रूप मे प्रतिष्ठित मानव चेतना है।

जर्मनी मे ही हेगेल का समकालीन एक अन्य दार्शनिक लुडविग फायरबाख (१८०४–१८७२) भौतिकवादी दिशा मे चिन्तन कर रहा था। कार्ल मार्क्स को भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाने मे उससे बहुत सहायता मिली। फायरबाख ने हेगेल की आलोचना करते हुए कहा कि उसके द्वारा निर्धारित किया हुआ परम प्रत्यय और कुछ नही केवल मानव मन है जो मनुष्य से बाहर हटाकर विश्व का कारण बता दिया गया है। हेगेल धर्मशास्त्र से प्रभावित होकर ईश्वर को परम प्रत्यय का रूप दे देता है। वस्तुतः मनुष्य का मन और उसकी चिन्तन प्रक्रिया मनुष्य के बाहर जाकर स्वतन्त्र रूप से विद्यमान नही रह सकती। विचार तो मानव मस्तिक का गुण है उसकी वह क्रिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्यय या चेतना मूल तत्व और प्रथम वस्तु नही है। वह मूलद्रव्य से उत्पन्न द्वितीय स्तर की वस्तु है।

फायरबाख ने धर्म का कट्टर विरोध किया। उनकेअनुसार ईश्वर कोई अलौकिक वस्तु नही है।मनुष्य ने स्वय अपनी आदर्श आकृति के अनुरूप उसकी कल्पना कर ली है। ईश्वर मे आरोपित सारे लक्षण पूर्ण मनुष्य के कल्पित लक्षण है। यह भी सभव है कि सभी मनुष्यों में मिलने वाले अनेक प्रकार के सुन्दर गुणो को एकीकृत कर एक ऐसे मनुष्य की कल्पना की गई जो ईश्वर कहलाया। फायरबाख के इस मत की प्रशंसा करते हुए भौतिकवादी कहते है कि वह ईश्वर को स्वर्ग से उतार कर पृथ्वी पर लाया।

फायरबाख का मत है कि भूतद्रव्य प्रथम तत्व है। चेतना की उत्पत्ति और स्थिति उसी पर निर्भर करती है। उसने ह्यूम और कान्ट के विरोध मे कहा कि यह जगत मनुष्य के लिए ज्ञेय है। सज्ञान की प्रक्रिया मे सवेदन सर्व प्रथम आते हैं। उन्ही से वस्तु जगत की सारी सूचनाये मिलती है। चिन्तन की प्रक्रिया उससे उच्च है। संवेदन और चिन्तन में आन्तरिक सम्बन्ध है।

मनुष्य प्रकृति का एक अंग है और उसी से उत्पन्न हुआ है। उसमे सवेदन, चिन्तन और संज्ञान प्रकृति की देन है। उसने यह ध्यान नही दिया कि मनुष्य पर समाज का भी प्रभाव पडता है और उसकी शरीरिक तथा मानसिक क्रियाये उससे प्रेरित हो सकती है। वह यह भी नही समझ पाया कि धार्मिक मान्यताओ के पीछे समाज के किसी वर्ग की दुरभिसधि भी है। इसीलिए उसने धर्म का विरोध करने के लिए कोई वास्तविक रास्ता नही निकाला। आगे आने वाले

भौतिकवादियो ने इसका महत्व समझा ।

फायरबाख के बाद रूस में कुछ दार्शनिक हुए जिन्होने उसके भौतिकवाद को विकसित किया और मार्क्स आदि के लिए अधिक सुदृढ भूमि तैयार कर दी। उन्होने प्राकृतिक विज्ञानों की उपलब्धियाँ जुटा कर दर्शन को अधिक समृद्ध बनाया। फायरबाख ने हेगेल के प्रत्ययवाद के साथ उसके द्वन्द्ववाद का भी त्याग कर दिया था, किन्तु इन दार्शनिको ने उसका उपयोग भौतिकवाद की व्याख्या के लिए किया।

कार्ल मार्क्स

कार्लमार्क्स का जन्म सन् १८१८ मे ट्रेवेस में हुआ था जो उस समय फ्रांस के प्रभाव मे था। जर्मनी के अन्य भागो की अपेक्षा वह नगर विश्व की विविध सस्कृतियो से अधिक प्रभावित था। मार्क्स के पूर्वज यहूदी थे किन्तु जब वह छोटा था तभी उसके माता-पिता ईसाई हो गये। उसका विवाह एक उच्च घराने की सुशील बालिका से हुआ और उसके साथ उसने सारे जीवन सत्यनिष्ठा के साथ निर्वाह किया। विश्वविद्यालय मे वह हेगेलवाद से प्रभावित था। साथ ही हेगेल के प्रतिद्वन्द्वी फायरबाख के भौतिकवाद की ओर भी उसका रुझान था। उसने पत्रकार बनने का प्रयास किया, किन्तु वह अपने क्रान्तिकारी विचारो के कारण दबा दिया गया।

सन् १८४३ मे वह समाजवाद का अध्ययन करने फ्रास चला गया। वहाँ उसकी भेंट एंजिल्स से हुयी। वह वहाँ एक कारखाने का प्रबन्धक था। उसके सम्पर्क मे रहकर उसे अंग्रेज श्रमिको की दशा का ज्ञान हुआ। सन् १८४८ की क्राति के पूर्व उसने अन्तर्राष्ट्रीय सस्कृति स्वीकार कर ली थी। उसने फ्रास और जर्मनी की क्रातियों मे भाग लिया किन्तु परिस्थितियो के वश उसे इगलैण्ड मे शरण लेनी पड़ी। उसके जीवन का अधिकाश समय लन्दन मे बीता। दरिद्रता, बीमारी, बच्चो की मृत्यु आदि अनेक दु.खो से वह पीडित रहा। फिर भी वह ज्ञान अर्जन में अथक परिश्रम से लगा रहा। उसे आशा थी कि उसके जीवन काल में ही अथवा उसके बाद अविलम्ब सामाजिक क्रान्ति होगी। इसी से प्रेरित होकर उसने एक दर्शन तन्त्र और उस पर आश्रित समाजिक क्राति की रूपरेखा तैयार की।

उसके अनुसार दर्शन एक प्राचीन विज्ञान है। वह अन्य विज्ञानो से इस बात मे समानता रखता है वह आसपास के जगत और जीवन का अध्ययन करता है, किन्तु विज्ञान की विविध शाखाये प्रकृति के किसी एक ही अश का अध्ययन करती हैं और दर्शन सम्पूर्ण जगत का, उसके आधारभूत तत्व और मानवमात्र

की समस्याओ का अध्ययन करता है। इसलिए दर्शन एक विश्व दृष्टिकोण है।

दर्शन विश्वदृष्टिकोण अपनाकर जगत का अध्ययन करता है किन्तु उसके निर्णय कल्पना और अनुमान से निकाले हो सकते है अथवा जगत की वास्तविकता के आधार पर। मार्क्स का दृष्टिकोण वैज्ञानिक और वास्तविकता से उद्भूत है। उसके अध्ययन की प्रक्रिया द्वन्द्वात्मक है और उसकी सामग्री इतिहास से मिली है। इसलिए इसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या ऐतिहासिक भौतिकवाद कहते हैं। इसमे वैज्ञानिक अनुसंधानो से प्राप्त सामग्री का उपयोग किया गया है, इसलिए वैज्ञानिक भौतिकवाद भी कहते हैं। इसमे प्रत्ययवादी दर्शन पद्धतियों का तथा धर्म की भावात्मक मान्यताओ का विरोध किया गया है। इसका विश्वास है कि इस मार्क्सवादी सिद्धान्त की राह पर चलकर ही हम वस्तुगत सत्य के अधिकाधिक निकट पहुँचेगे। कोई भी अन्य रास्ता हमे निश्चय ही असत्य व भ्रान्ति की ओर ले जायेगा।

वैज्ञानिक विश्वदृष्टिकोण पहले तो दर्शन के मौलिक प्रश्न के भौतिकवादी उत्तर पर आधारित होता है और दूसरे द्वन्द्वात्मक विधि के प्रयोग पर। यह विश्व दृष्टिकोण सदा भौतिकवादी और द्वन्द्वात्मक होता है। इस विचारधारा का उदय कोई संयोगवश नही हुआ। यह तो मानव जाति की प्रगति का परिणाम था।

उन्नीसवी सदी के मध्य तक सामतवादी समाज-व्यवस्था ढहने लगी थी। उसका स्थान पूंजीवाद ने ले लिया था। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में बुर्जआ और सर्वहारा दो वर्ग बन गये थे। पहला वर्ग कल-कारखानों का मालिक धन सपन्न था। दूसरा दुर्बल, गरीब मजदूर वर्ग था। दोनो वर्गो के इस भेद के कारण उनके सम्बन्ध तेजी से बिगड़ रहे थे। मजदूर वर्ग धीरे-धीरे संगठित होने लगा था। उसे अपने सघर्ष में सफल होने के लिए एक सुदृढ़ योजना और उसके आधार के लिए एक वैज्ञानिक विश्वदृष्टिकोण की आवश्यकता थी। इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए मार्क्सवाद का उदय हुआ।

उस समय तक वैज्ञानिको ने तीन महत्वपूर्ण खोजें कर ली थी जिनके आधार पर वैज्ञानिक दर्शन का भवन खड़ा हो सकता था। जर्मन जूलियस रॉबर्ट मेयर ने १८'२ मे ऊर्जा का अविनाशी गुण खोज लिया था। उससे सिद्ध हो गया कि यांत्रिक बल, ताप, प्रकाश, बिजली, चुम्बकत्व आदि एक दूसरे से पृथक नहीं वरन् आन्तरिक रूप से सबन्धित है। निश्चित दशाओं मे ऊर्जा को किसी हानि के बिना परस्पर रूपान्तरित किया जा सकता है। ऊर्जा की उत्पत्ति और नाश नही होता। केवल उसका रूपान्तरण होता है।

दूसरा अनुसधान पावेल गोर्यानिनोव आदि न किया। उससे सिद्ध हुआ

कि पौधो और जानवरो की रचना कोशो से हुई है और उनमे मूलभूत एकता है।

तीसरी महान खोज ब्रिटिश वैज्ञानिक चार्ल्स डार्विन ने की। उसके अनुसार जीवों की जातियाँ अपरिवर्तनीय नही है। वे प्राकृतिक पर्यावरण से प्रभावित होकर विकसित हुई है। मनुष्य भी उसी विकास क्रम का परिणाम है। मार्क्स ने इन खोजों के आधार पर भौतिकवाद और द्वन्द्ववाद के नियम निर्मित किए और उन्हे दार्शनिक रूप दिया।

मार्क्स के पूर्व सदियो से दार्शनिक चिन्तन का विकास हो रहा था। उनकी दो प्रतिद्वन्द्वी धारायें उस समय विद्यमान थी। उनके प्रतिनिधि हेगेल और फायर-बाख थे। हेगेल का दर्शन वस्तुगत प्रत्ययवादी था और फायरबाख ने उसका दृढता के साथ विरोध कर भौतिकवाद की स्थापना की। मार्क्स ने इन दोनो दार्शनिकों को भली भांति समझने का प्रयास किया। उसके फलस्वरूप उसे हेगेल का केवल द्वन्द्ववाद उपयोगी दिखाई दिया और फायरबाख द्वारा भौतिकवाद के समर्थन मे दी गयी उक्तियाँ काम की लगी। इसलिए वह फायरबाख के पक्ष मे अधिक था,किन्तु उसका भी वह पूर्ण अनुयायी न हो सका। वह तो अपने दर्शन से सर्वहारा वर्ग की क्रांति को बल देना चाहता था किन्तु उस प्रकार की कोई प्रेरणा फायरबाख से नही मिलती थी। मार्क्स दर्शन का प्रयोजन ही बदल देना चाहता था। वह कहता है, "दार्शनिको ने विभिन्न विधियो से विश्व की केवल व्याख्या ही की है, लेकिन प्रश्न विश्व को बदलने का है।"[१] इसलिए उसने द्वन्द्ववाद और भौतिकवाद एकीकृत किया और उसका प्रयोग सामाजिक जीवन के अध्ययन तथा स्पष्टीकरण के लिये किया। उसका दर्शन एक विश्वदृटिकोण देकर निवृत्त नही हो जाता। वह क्रान्तिकारी परिवर्तन की एक वास्तविक पद्धति भी देता है।

भूत द्रव्य क्या है ?

भौतिकवादी दर्शन वही है जो भूतद्रव्य को ही जगत का मूल कारण और सत् वस्तु मानता है। हम अपने आस-पास जो कुछ भी देखते हैं इसमे छोटे से कण से लेकर विराट आकाश गंगा तक, एक कोषाणु के जीवो से लेकर बड़े-बडे पशु और मनुष्य तक, अचित् पाषाण की यान्त्रिक क्रिया से चेतन मनुष्य की चिन्तन प्रक्रिया तक सभी कुछ है। इस विविधता के मूल मे जो तत्त्व है उसका क्या रूप है ? वह कैसा है ? इसके उत्तर मे भौतिकवादी कहते है कि भौतिक

१- का० मार्क्स, फायरबाख पर निबन्ध, संकलित रचनायें, खण्ड १, भाग १, पृष्ठ १४

जगत का कारण भी भौतिक होना चाहिए। प्राचीन भौतिकवादियो ने उसे वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी रूप माना। कुछ विचारकों ने उनका भी कारण अदृश्य परमाणु समझा। फायरबाख आदि आधुनिक भौतिकवादियों ने एक ऐसी अमूर्त संकल्पना के रूप मे भूतद्रव्य को माना जो विश्व के अगणित विविधतापूर्ण गुणों को धारण किये है। वे सदा विज्ञान से उसका समर्थन चाहते रहे और विज्ञान कभी एक निर्णय पर नही पहुँचा, इसलिए वे उस भूतद्रव्य की वैज्ञानिक परिभाषा न दे सके।

मार्क्स और ऐंजिल्स द्वारा प्रतिपादित द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद आधारभूत नियमो के बल पर तथा प्राकृतिक विज्ञानों की तत्कालीन खोजों को ध्यान मे रखकर लेनिन ने भूतद्रव्य को एक दार्शनिक प्रवर्ग (केटेगरी) मान कर उसकी यह परिभाषा दी "भूतद्रव्य वस्तुगत वास्तविकता का द्योतक एक दार्शनिक प्रवर्ग है, जो मनुष्य को उसके सवेदनो द्वारा प्रदत्त है और जो हमारे सवेदनो से स्वतन्त्र रूप में अस्तित्वमान होते हुए उनके द्वारा प्रतिरूपित, चित्रांकित तथा परावर्तित होता है।"[1]

इस परिभाषा की कुछ ध्यान देने योग्य विशेषतायें है। सर्व प्रथम, भूतद्रव्य की यह विशेषता है कि वह चेतना से बाहर, उससे स्वतन्त्र और वस्तुगत रूप मे विद्यमान है। दूसरे, इस परिभाषा से ज्ञात होता है कि भूतद्रव्य प्रथम और आदि वस्तु है तथा चेतना उससे उत्पन्न दूसरे स्तर की वस्तु है। चेतना भूतद्रव्य पर आश्रित है, इसलिए यह परिभाषा प्रत्ययवाद का विरोध करती है और धार्मिक प्रत्ययो को खोखला सिद्ध करने मे समर्थ बनती है। तीसरे, इस परिभाषा मे कहा गया है कि हमारे सवेदनो के द्वारा प्रतिलिखित, चित्रांकित और परावर्तित होते है। यह भौतिकवादी ज्ञान-मीमासा का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। इससे अज्ञेयवाद का खण्डन होता है और बाह्य जगत की वस्तुओ को जानने की प्रक्रिया स्पष्ट होती है। व्यवहार में सिद्धान्त हमे इस बात के लिए आश्वस्त और प्रेरित करता है कि जगत के सम्बन्ध मे सत्य ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं तथा वह ज्ञान अधिक से अधिक अर्जित करने का प्रयास करना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भूतद्रव्य एक दार्शनिक प्रवर्ग होने के कारण वैज्ञानिक अनुसंधानो से खडित नही होता। भूतद्रव्य की सरचना के सम्बन्ध मे सभी नये अनुसधानो

---

1. Matter is a philosophical category denoting the objective reality which is given to man by his sensations, and which is copied photographed and reflected by sensations while existing independently of them." V. I. Lenin. "Materialism and Empirio Cr t c sm Co ected Works Vo 14 page 130

की उपलब्धियाँ, जो अब तक हुई है या आगे होंगी उन सब के लिए यह परिभाषा उपयुक्त है ।

गति

भूतद्रव्य का एक महत्वपूर्ण गुण उसकी गति है। लेनिन के अनुसार 'विश्व मे गतिमान भूतद्रव्य के अतिरिक्त और कुछ नही है ।" हम अणु, परमाणु से लेकर जीवित शरीर, पृथ्वी, ग्रह, तारे जो कुछ भी देखते हैं वे सब गतिमान दिखाई देते है । अतः गति विश्वव्यापी है। ऐंजिल्स लिखते हैं, "गति भूतद्रव्य के अस्तित्व का ढग है । गति के विना भूतद्रव्य नही होता और न कभी हो सकता है ।"[1]

गति और भूतद्रव्य की अभिन्नता कई दार्शनिकों ने पहले भी स्वीकार की थी किन्तु वे गति का अर्थ स्थान परिवर्तन मात्र समझते थे। ऐंजिल्स ने कहा, 'भूतद्रव्य के सन्दर्भ मे गति सर्वव्यापी परिवर्तन है ।"[2] गति के अनेक रूप है जैसे भूतद्रव्य की यांत्रिक गति गति के भौतिकरूप—ताप ध्वनि विद्युतचुम्बक, परमाणु के अन्दर आदि, गति के रासायनिक रूप—परमाणुओ का विखण्डन और पृथक्करण, गति के जैविकरूप—अगो की गति, विचार चिन्तन आदि और गति के सामाजिक रूप—संघर्ष, क्रान्ति, विकास आदि । ये सब गतियाँ भूतद्रव्य मे ही होती हैं और उसी एकता के कारण गतियों मे अन्तर्सम्बन्ध होता है ।

गति विश्वव्यापी निरपेक्ष तथ्य है । किसी गतिशील वस्तु मे किंचित स्थायित्व भी आ सकता है । यह भी एक सत्य है । किन्तु स्थिरता सदा रहने वाली या निरपेक्ष नही है। वह एक दृष्टि से स्थिरता है किन्तु दूसरी दृष्टि से उसमे भी गति है । उदाहरण के लिए हम एक सोते हुए मनुष्य को स्थिर कह सकते है, क्योंकि वह चलता-फिरता नही है। किन्तु हम यह नही कह सकते कि वह सब प्रकार की गति से शून्य है । उसकी श्वास चलती है, उसमें रक्त संचार और पाचन हो रहा है, इतना ही नहीं, पृथ्वी के घूमने के साथ वह भी घूम रहा है । अतः कोई वस्तु किसी एक सन्दर्भ मे स्थिर होती है, किन्तु अन्य संदर्भो मे वह उस समय भी गतिशील होती है । हम निरपेक्ष स्थिरता या निष्क्रियता कही नही पाते ।

देश और काल

हमारे आस-पास की वस्तुये निश्चित आकार की और निश्चित तरीके से अवस्थित हैं । उनका अपना क्रम है, आपस मे दूरी है । हम यह भी देख चुके

---

१. फ्रे. ऐंजिल्स, 'ड्यूहरिंगमत-खण्डन' हिन्दी संस्करण, पृ. ५३६

२ फ ऐंजिल्स प्रकृति की द्वन्द्वात्मकता

हैं कि उनमें गति और परिवर्तन निरन्तर होता रहता है । वस्तुओं के इन गुणों से देश-काल का अस्तित्व सिद्ध होता है। देश-काल भूतद्रव्य के अस्तित्व का सर्वव्यापी रूप है । लेनिन के मतानुसार, "गतिमान भूतद्रव्य केवल देश और काल में स्पंदित हो सकता है , अन्यथा नही ।"[१]

देश की संकल्पना वस्तुओं का सम्बन्ध और दूरी सूचित करती है । उसी कारण वस्तुओं की लम्बाई, चौडाई ऊँचाई, रूप, आकार भी निश्चित होता है । देश के तीन आयाम है–दायाँ–बायाँ आगे–पीछे और ऊपर-नीचे । इन्हीं के द्वारा वस्तु की स्थिति निर्धारित की जाती है ।

काल का अर्थ है घटनाओं और परिवर्तनों का क्रम । कुछ घटनायें पहले हुईं, कुछ अब हो रही है और कुछ आगे होगी । यह कालक्रम है । इसी से इतिहास बनता है । काल का एक ही आयाम होता है। वह भूत, वर्तमान और भविष्य की एक रेखा में एक ही ओर चलता है । वह मुड़कर विपरीत दिशा में नही चल सकता । जैसे देश में हम आगे बढकर पीछे भी हट सकते हैं और जहाँ से चले थे वही लौट सकते हैं, किन्तु इस बीच जितना काल व्यतीत होगा हम उस काल में पहुँच जायेगे । पीछे लौटकर हम बीते काल में नही आ सकते ।

देश और काल आसीम भी हैं। प्रत्ययवादी उन्हें आदि अन्त वाला मानते हैं, किन्तु भौतिकवाद भूतद्रव्य की अनन्तता के साथ देश–काल की भी अनन्तता मानते है , अन्यथा भूतद्रव्य के अनन्त होने का कोई अर्थ न होगा । एक–एक वस्तु का आदि अन्त देखा जाता है किन्तु समस्त भूतद्रव्य का अन्त नही देखा जाता ।

देश-काल सम्बन्धी यह अवधारणा व्यवहार मे बड़े काम की है । इन्हीं से सामाजिक व्यवहार की विधियाँ रूप, लय और त्वरा निर्धारित होते हैं । उत्पादन के क्षेत्र में और सामाजिक-राजनीतिक जीवन में इनका ध्यान रखना होता है ।

चेतना की उत्पत्ति

मार्क्स और लेनिन ने पूर्व काल मे चेतना के विषय में बनी अवधारणाओं पर विचार किया और देखा कि प्राचीन दार्शनिक प्रायः चेतना के बजाय आत्मा शब्द का प्रयोग करते थे और इससे उनका तात्पर्य देखने, सुनने सोचने, अनुभव करने आदि की क्षमताओं से होता था। भौतिकवादी उस आत्मा को भूतद्रव्य से उत्पन्न और प्रत्ययवादी उसकी स्वतंत्र सत्ता मानते थे । कुछ लोग धार्मिक प्रभाव मे आकर आत्मा की उत्पत्ति ईश्वर से मानते थे । प्रत्ययवादी दार्शनिक दो वर्गों मे बट गये थे–आत्मगत और वस्तुगत । आत्मगत प्रत्ययवादी अपनी चेतना में ही

---

१ लेनिन भौतिकवाद और ______ आलोचना' ।

समस्त जगत समाहित कर लेते थे और वस्तुगत प्रत्ययवादी एक सर्वव्यापी चेतना की कल्पना कर अपनी चेतना उसी का अंश समझ लेते थे।

चेतना की भौतिकवादी संकल्पना विज्ञान के विकास के साथ ही विकसित हुई है। प्रारम्भिक विचार यह था कि मस्तिष्क में भावनाओं और विचारों की उत्पत्ति ठीक उसी प्रकार होती है जैसे जिगर में पित्त का स्राव होता है। उसके वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए लेनिन ने कहा,'सारे भूतद्रव्य में प्रतिबिम्बित होने का एक ऐसा गुण होता है जो तत्वत संवेदन का सजातीय है।'[1] हमारा अनुभव यह बताता है कि अजैविक भूतपदार्थ सहित समस्त पिण्ड बाह्य जगत को प्रतिबिम्बित कर सकते हैं अर्थात उनका प्रभाव अपने में अंकित कर सकते हैं। एक वस्तु द्वारा दूसरी पर डाले गये तथा उसके द्वारा कुछ समय धारण किये गये परिवर्तन या प्रभाव प्रतिबिम्ब (रिफ्लेक्शन) कहलाते हैं। यह गुण सभी भौतिक वस्तुओं में होता है और वह विकास के भिन्न-भिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करता है।

अजैविक वस्तुओं में यह प्रतिबिम्ब शुद्ध यांत्रिक होता है, जैसे आघात पड़ने पर पत्थर टूट जाता है, पानी पड़ने पर मिट्टी पिण्ड बन जाती है, आदि। जीवन की उत्पत्ति होने पर यह प्रतिबिम्ब अधिक जटिल हो गया। जीव विज्ञान के द्वारा हुई खोजों को स्वीकार करते हुए और उन्हें अपना प्रमाण मानते हुए भौतिकवादी चेतना का क्रमिक विकास प्रतिस्थापित करते हैं। उसकी उत्पत्ति अजैव भूत द्रव्य जटिल रासायनिक प्रक्रियाओं के द्वारा हुई है। सरलतम जैविक यौगिक (हाइड्रोकार्बन) सबसे पहले सागर में उत्पन्न हुए। बाद में वे गुणात्मक परिवर्तन से प्रोटीन और न्यूक्लीक अम्ल में विकसित हो गये। यह कहानी एक या डेढ़ अरब वर्ष पूर्व की है। समय बीतने पर ये जीवित तत्व विभक्त होकर अनेक प्रकार के हो गये। उन पर पर्यावरण का प्रभाव पड़ता रहा और वे अपनी जाति बदलते रहे।

बहुत समय बाद सुषुम्ना और मस्तिष्क का विकास हुआ। उन्हें प्रतिकूल स्थितियों से बचने की, भविष्य के अनुमान लगाने की और अपनी रक्षा करने की योग्यतायें बढ़ती गयी। इस प्रकार चेतना का क्रमिक विकास हुआ।

मनुष्य की उत्पत्ति लगभग २० लाख साल पूर्व हुई थी। उसके साथ चेतना के विकास का दूसरा दौर प्रारम्भ हुआ। पहले वह मानव कम, वानर अधिक था। वह अपनी रक्षा करने के लिए लकड़ियों और पत्थरों का प्रयोग करने लगा। उसके हाथ की शक्तियाँ बढ़ने लगी। वह बांस में पत्थर के चाकू

---

१ लेनिन भौतिकवाद और अनुभवात्मक आलोचना

लगाकर बल्लम बनाने लगा। वह दो पैर से सीधा चलने लगा। उसके मस्तिष्क का भार बढता गया। मस्तिष्क के भार और आकार का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों ने बताया कि मस्तिष्क का आकार क्रमशः वानर, जावा-मानव, पेकिंग-मानव, नियंडरथाल-मानव और आधुनिक मानव मे बढता गया है; इसी के साथ उसके चिन्तन और अनुसधान की क्षमता बढती गयी है। आवश्यकता अनुसंधान और विकास की जननी है। अन्त मे, विचार करने वाला मनुष्य ऐसी अवस्था मे पहुँच गया जहाँ उसे अन्य लोगो से कुछ कहना था। अत. उसने संकेत देना प्रारम्भ किया और फिर वे संकेत भाषा के रूप मे विकसित हो गये।

मार्क्स और लेनिन का मत है कि मनुष्य की चेतना के विकास मे उसके सामाजिक जीवन की भूमिका अनिवार्य थी। वह एक समाज बना कर रहा, इसीलिए वह इतना प्रबुद्ध बना। उनका यह भी मत है कि समाज और सामाजिक सम्बन्धों के बाहर चेतना न तो कभी पैदा हो सकती है और न उसका अस्तित्व हो सकता है। आदि से अन्त तक यह सामाजिक उत्पाद है, श्रम और सयुक्त मानवीय क्रियाकलाप का परिणाम है। आज भी प्रयोग के द्वारा सिद्ध किया जा सकता है कि अन्य लोगो के सम्पर्क से पृथक बढ़ने वाले बच्चे मे चेतना का विकास नहीं होता। इसके लिए गोडामुरी नामक भारतीय गाव मे पैदा हुई दो बालिकाये अमला और कमला भेडियो के झुड मे पली प्रबल प्रमाण है। उन्हे बहुत प्रशिक्षण देने पर भी पूर्ण मानव नहीं बनाया जा सका।

मानवी चेतना के कुछ विशेष लक्षण है। सर्वप्रथम वह बाह्य व आन्तरिक अस्तित्वो की एकता प्रतिबिम्बित करती है। उसमें सवेदना, संकल्पना, अमूर्त चिन्तन, भाषण आदि के लक्षण है। दूसरे, वह अपने क्रियाकलाप और प्रकृति की घटनाओ का अनुमान भी लगा सकती है। तीसरे यह लक्ष्य और आदर्श का भी निर्धारण कर सकती है। चौथे. यह वास्तविक स्थिति का मूल्यांकन कर सकती है। उपयोगी-अनुपयोगी, अनुकूल-प्रतिकूल का बोध इससे होता है। पाचवें, यह चेतना आन्तरिक जगत को भी प्रतिबिम्बित करती है। छठे वह सामान्य प्रकृति की दशा से सन्तुष्ट न होकर उसे अपने अनुकूल बनाने का रचनात्मक प्रयास करती है।

व्यवहार मे चेतना की सक्रियता दिखाई देती है। इसके अनेक रूप है किन्तु सबसे महत्वपूर्ण संज्ञानात्मक, रचनात्मक और नियामक कार्य है। मनुष्य अपनी चेतना के द्वारा कुछ ज्ञान प्राप्त करता है उसके आधार पर कुछ ऐसी रचना करता है जो प्रकृति मे सहज विद्यमान नही होती। इसके नियामक कार्य दो प्रकार के हैं-प्रेरणात्मक और कार्यकारितात्मक। क्रान्तिकारी विचारों से प्रेरित होकर मनुष्य अपने प्राणों की आहुति दे देते है। कार्यकारिता चेतना अपने

लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अनुकूल यथार्थवादी साधनों का चयन करने की क्षमता रखती है।

द्वन्द्ववाद

मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मे जितना महत्वपूर्ण स्थान भौतिकवाद का है उतना ही द्वन्द्ववाद का भी है। द्वन्द्ववाद ही उसके दर्शन की चिन्तन प्रक्रिया है जिसके द्वारा वह जगत और समाज की विकास प्रक्रिया की व्याख्या करता है। मार्क्स भौतिकवाद के लिए फायरबाख का ऋणी है और द्वन्द्ववाद के लिए हेगेल का। यद्यपि उसने द्वन्द्ववाद का पूर्णतः विरोध किया किन्तु उसके द्वन्द्ववाद का सशक्त अस्त्र उसे उपयोगी दिखाई दिया। उसका प्रयोग अपने दार्शनिक चिन्तन मे भरपूर किया।

भौतिकवाद का इतिहास बहुत पुराना है किन्तु मार्क्स के पूर्व तक वह यान्त्रिक भौतिकवाद ही रहा। उसके अनुसार जगत की रचना सूक्ष्म भौतिक अश (परमाणुओं) से हुई मानी जाती थी। अगणित परमाणुओं के मिलने से पृथ्वी आदि पिण्डो की और समस्त जीवधारियो की उत्पत्ति हुई। यह सब रचना यन्त्र के समान हुई। परमाणुओ मे ही स्वाभाविक गति विद्यमान थी और उस गति से परमाणु यंत्र के समान चलते, मिलते और नया रूप धारण करते थे। इसलिए इस मान्यता को यान्त्रिक भौतिकवाद कहते थे।

बहुत समय तक यह सिद्धान्त महत्वपूर्ण समझा जाता रहा और विभिन्न युक्तियो से इसे सत्य सिद्ध किया गया। फिर भी इसमें तीन मुख्य दुर्वलतायें थी वे किसी से छिपी नही रहीं। सर्व प्रथम, परमाणुओ मे गति उत्पन्न करने वाला कोई चेतन तत्व होना अनिवार्य माना गया। उसके बिना जड़ परमाणु गति नही कर सकते। यदि उनमे गति स्वाभाविक मान ली जाय तो यह जगत किसी भी समय परमाणु दशा मे नही हो सकता। दूसरे, भूतद्रव्य की गति यन्त्र के समान होने के कारण एक ही स्तर पर हो सकती है, उसके द्वारा किसी विकास की व्याख्या नही की जा सकती। तीसरे, यान्त्रिक सिद्धान्त सामाजिक विकास की व्याख्या बिल्कुल नही कर सकता। मनुष्य समाज मे कैसे व्यवहार करता है और समाज में मनुष्य का विकास कैसे होता है-इन प्रश्नो का उसमे कोई समाधान नही है।

यान्त्रिक भौतिकवाद की इन समस्याओं के कारण प्रत्ययवाद और अध्यात्मवाद का उद्भव हुआ। जगत की वास्तविकता से दूर हटकर दार्शनिको को एक सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान ईश्वर की कल्पना करनी पड़ी। मार्क्स ने दर्शन को इस प्रकार की कल्पनाओं से बचाने के लिए भौतिकवाद की पुनः स्थापना की और यान्त्रिकता की दुर्बलताओं से बचने के लिए द्वन्द्ववाद का सहारा लिया। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद जगत को निर्मित वस्तुओ का एक भण्डार नहीं मानता वरन समस्त वस्तुओं को एक दूसरे पर प्रभाव डालते हुये और प्रतिक्रिया करते

ए विकासवान रूप मे देखता है।

द्वन्द्ववाद का सिद्धान्त सर्वप्रथम यूनानी दार्शनिक जेनो ने ईसा से कई शताब्दी पूर्व खोजा था। उसके बाद उसका प्रयोग प्राय प्रत्ययवादी दार्शनिक समय-समय पर करते रहे। उसका सब से अधिक विकसित रूप हेगेल के दर्शन मे उपलब्ध हुआ। हेगेल के अनुसार देश काल के अन्तर्गत भौतिक जगत की समस्त प्रक्रिया निरपेक्ष प्रत्यय (एब्सोल्यूट आइडिया) की अभिव्यक्ति है। प्रत्यय व्याघातों की एक लम्बी शृंखला के द्वारा विकसित होता है। इस प्रकार प्रत्यय का क्रमिक विकास ही भौतिक जगत का विस्तार है। देश-काल के अन्तर्गत वस्तुयें रूपान्तरित होती हुई विकसित होती हैं तो इसका एकमात्र कारण यही है कि वे पूर्ण प्रत्यय के आत्म-व्याघाती स्वभाव का मूर्त रूप हैं। वास्तविक वस्तुओं का विकास उनके प्रत्ययो के आत्म व्याघाती स्वभाव के कारण होता है। प्रत्येक स्तर पर वस्तु एक पक्ष है, दूसरी वस्तु उसका प्रतिपक्ष है। इन दोनों का व्याघात जब समन्वय मे बदल जाता है तो एक नई विकसित वस्तु प्रकट हो जाती है। इस प्रक्रिया मे हमारे मानसिक प्रत्यय वस्तुओं के प्रतिबिम्ब नही है, वरन् प्रत्ययो का ही वास्तविक रूप बाह्य जगत की वस्तु है।

ऐंजिल आदि भौतिकवादियों के अनुसार हेगेल का द्वन्द्ववाद सिर के बल खड़ा था। वह उसका प्रयोग उल्टे रूप में कर रहा था। मार्क्स ने उसे पैरों पर खड़ा कर सीधा किया और भूतद्रव्य मे द्वन्द्ववादी विधि का प्रयोग कर उसने जीवन, चेतना और समाजवाद का विकास सिद्ध किया। उसके द्वन्द्ववाद के समझ लेने से भूतद्रव्य मे कार्य कर रही विकास की प्रक्रिया समझ मे आ जाती है। उसमें किसी बाह्य शक्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती।

मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद यह मानकर चलता है कि विश्व के मूल मे एक भौतिक एकता है और भूतद्रव्य की गति और विकास के सारे रूप वस्तुगत है। ऐंजिल्स ने लिखा है, 'द्वन्द्वात्मकता, तथाकथित वस्तुगत द्वन्द्वात्मकता ही सारी प्रकृति में प्रधान है और तथाकथित आत्मगत द्वन्द्वात्मकता, द्वन्द्वात्मक चिन्तन उस गति का प्रतिबिम्ब मात्र है जो प्रकृति मे सर्वत्र हावी है...।'[1] तात्पर्य यह है कि वस्तुगत द्वन्द्वात्मकता एकीकृत अन्तर्सम्बन्धों के रूप में भौतिक जगत मे गति और विकास है। आत्मगत द्वन्द्वात्मकता विचारो, चिन्तनो अदि की गति और विकास है, किन्तु यह वस्तुगत द्वन्द्वात्मकता का प्रतिबिम्ब मात्र है।

मार्क्स के द्वन्द्ववाद के कुछ मूलभूत सिद्धान्त है। सर्वप्रथम, भौतिक जगत की घटनाये सर्वव्यापी प्रभाव डालने वाली है। किसी भी वस्तु या घटना की उत्पत्ति, परिवर्तन, विकास तथा गुणात्मक अवस्थाओं मे कोई रूपान्तरण अलग-

१ फ० ऐंजिल्स प्रकृति की द्वंद्वात्मकता।

थलग होना असभव है। उनका प्रभाव दूर-दूर तक सबल पडता है।

दूसरा मूलभूत सिद्धान्त विकास है। विकास, प्रगति तथा प्रतिगमन एक प्रकार की गति है। किसी वस्तु अथवा प्रक्रिया की आन्तरिक सरचना में परिवर्तन ही विकास का रूप है। जब हम कहते है कि एक प्रणाली विकसित होती है तो हमारा मतलब उसकी सरचना मे एक आन्तरिक,गुणात्मक रूपान्तरण से होता है। ऐंजिल्स लिखते है, 'विश्व की उसके विकास की मनुष्य जाति के विकास की और मनुष्यो के मन मे इस विकास के प्रतिबिम्ब की सच्ची अवधारणा केवल द्वन्द्ववाद की पद्धतियो के द्वारा ही की जा सकती है, जो उद्भावना और तिरो-भावना के बीच, प्रगतिशील और प्रतिगामी परिवर्तनो के बीच असख्य क्रिया-प्रतिक्रियाओं को निरन्तर ध्यान में रखता है।'[१] सारे विश्व की गति एक ही दिशा मे नही होती है। वह प्रगतिशील और प्रतिगामी दोनो हो सकती है।

मार्क्स के भौतिकवादी द्वन्द्ववाद को समझने के लिए उसके कुछ नियमो पर प्रकाश डालना आवश्यक है। उसका सबसे पहला नियम विरोधों की एकता का नियम है। विरोधी किसी वस्तु या घटना के अन्दरूनी पक्ष की प्रवृत्तियाँ या शक्तियाँ हैं। वे एक दूसरे को अपवर्जित (कैंसिल) करती है। वे एक दूसरे के लिए पूर्व मान्य भी होती है। विरोधो का अन्तर्सम्बन्ध एक व्याघात है। जड़ प्रकृति मे चुम्बक एक ऐसा उदाहरण है जिसमे उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवो का विरोध होना है। जीवित शरीर मे सरल पदार्थों से जटिल पदार्थों की रचना होती है और जटिल पदार्थों का विखण्डन भी होता है। ये दोनो विरोधी क्रियाये है। इनमें से एक के भी समाप्त हो जाने पर प्राणी मर जाता है। समाज मे दास और स्वामी, किसान और जमीदार तथा मजदूर और पूंजीवादी विरोधी वर्ग हैं। विरोधियो की एकता का तात्पर्य है कि एक दूसरे के बिना उनका अस्तित्व नही हो सकता है। वे परस्पर निर्भर है। सामान्य रूप मे इनका सन्तुलन होता है। किन्तु विकास की प्रक्रिया मे वह सन्तुलन गडबडा जाता है। इसके अन्तिम परिणामस्वरूप एक वस्तु का विलोप और विरोधियो की नयी एकता से सज्जित दूसरी का आविर्भाव हो जाता है।

मार्क्स के द्वद्ववाद मे व्याघातो की अनेकरूपता पर भी विचार किया गया है। ससार मे व्याघात अनेक प्रकार के है। उनमे मुख्य, व्याघात अन्तर-बाह्य, प्रतिरोधात्मक-अप्रतिरोधात्मक तथा मूलभूत-अमूलभूत है।

किसी वस्तु के अन्तर्गत ही दो पक्षो का विरोध आन्तरिक व्याघात है। उस वस्तु का बाह्य पर्यावरण और उसमे स्थित वस्तुओं से विरोध बाह्य व्याघात

१- फ्रे० ऐंजिल्स- ड्यूहरिंग मत खण्डन, पृष्ठ ५२

है। भौतिक जगत् की वस्तुओं में दोनो प्रकार के व्याघात होते है। इन दोनो मे से आन्तरिक व्याघात विकास मे निर्णायक भूमिका अदा करते है। इसलिए मार्क्स द्वंद्ववाद में गति का अर्थ भूतपदार्थ की आन्तरिक गतिहै। इस गति के बिना वस्तु की सत्ता भी नही हो सकती। परमाणु के अन्दर धनात्मक विद्युत आवेशी न्यूक्लियस और ऋणात्मक विद्युत आवेशी एलेक्ट्रान के बिना उसकी सत्ता ही सभव नही है। समाज का विकास भी उसी के अन्दर विद्यमान द्वन्द्व ही करता है। इसमे सन्देह नही कि उस पर बाहर से भी दबाव और प्रभाव पड सकता है किन्तु वह स्थायी नही होता। समाज और प्रकृति की शक्तियों का द्वन्द्व इसी प्रकार का है।

प्रतिरोधात्मक और अप्रतिरोधात्मक द्वन्द्व समाज मे ही देखे जाते हैं प्रतिरोधात्मक द्वन्द्व दो वर्गों के बीच होता है। उनके स्वार्थ पूर्णत. विरोधी होते है। यह विरोध गहन हो जाने पर सघर्ष प्रारम्भ हो जाता है और उसका अन्त सामाजिक क्राति ही करती है। पूजीपति और मजदूरों का सघर्ष इसी प्रकार का है। समाजवाद की विजय होने पर ही उसका अन्त होगा। अप्रतिरोधात्मक विरोध उन दो वर्गों के बीच होता है जिनके स्वार्थ एक समान होते हैं। उनके विरोध धीरे-धीरे स्वतः समाप्त हो जाते हैं। उसके लिए कोई सामाजिक क्राति नही होती। मजदूर और किसान का विरोध इसी प्रकार का है। पूजीवादी व्यवस्था मे नगर का मजदूर गाव के किसान से सस्ता अन्न चाहता है और किसान उसे महगा बेचना चाहता है। इस प्रकार दोनों मे विरोध दिखाई देता है, फिर भी दोनों वर्ग शोषित होने के कारण आपस मे सहयोग करते हैं और पूंजीपति शासकों का तख्ता पलटने का प्रयास करते हैं।

इन सभी प्रकार के विरोधो को पुनः दोवर्गों मे बाट सकते है-मूलभूत और अमूलभूत। समाज में अनेक प्रकार के विरोध,व्याघात और संघर्ष है,वे अमूलभूत है। उन सब के मूल मे एक प्रबलऔर स्थायी विरोध विद्यमान है। समाज मे एक ओर समाजवादी शक्ति आगे बढ रही है और दूसरी ओर पूंजीवादी शक्ति उसके साथ प्रतिक्रिया कर रही है। इन शक्तियों का संघर्ष मौलिक है। शेष विभिन्न प्रकार के ऊपरी सघर्ष अमूलभूत हैं।

द्वन्द्वन्याय का एक नियम परिमाण का गुण मे परिवर्तन भी है। गुण और परिमाण दोनो ही किसी वस्तु की माप बनते हैं.[1] किसी वस्तु की अनेक विशेषतायें होती है। वे सब मिलकर उस वस्तु का गुण निर्धारण करती है एक वस्तु का गुण ही उसे दूसरी वस्तु से भिन्न करता है। हम अपने आस-पास

1. The unity quantity andquality is called measure U. G.Afanasyev Marx st Ph osoply page 97

अनेक वस्तुये उनके गुणों के कारण ही पृथक रूप में पाते है । कुछ वस्तुयें एक समान भी होती हैं क्योंकि उनके गुण समान है ।

वस्तु का आकार, प्रकार, भार आदि उसका परिमाण है । यह सामान्यतः संख्याओ मे व्यक्त किया जाता है ।

वस्तु का परिमाण बदलने से एक सीमा के बाद उसके गुण बदल जाते है । यह सर्वव्यापी नियम है । सामान्य वायु मडल के दबाव के अन्तर्गत ० अंश से १०० अश तक का तापमान पानी को तरल अवस्था में रखता है । इस परिमाण के अन्दर पानी का गुण तरलता देखा जाता है । तापमान शून्य से नीचे जाने पर पानी जमकर बर्फ बन जाता है । अब वह बह नही सकता । यह उसका गुण परिवर्तन है । १०० अश से अधिक तापमान होने पर जल वाष्प बन जाता है । अब उसमें दूसरे गुण आ गये । वह वायु में उड सकता है । इस नियम का उल्लेख करते हुए ऐंजिल्स ने लिखा है, 'प्रकृति में गुणात्मक परिवर्तन भूतद्रव्य या गति के केवल परिमाणात्मक जोड या घटाव द्वारा ही हो सकते हैं ।'[1]

वैज्ञानिकों ने इसी नियम का प्रयोग कर कृषि की नयी फसलों और पशुओ की नयी नस्लों का प्रजनन किया है । यह नियम सामाजिक जीवन के सारे क्षेत्रों में भी देखा जाता है । इस प्रकार परिमाण मे गुण के रूपान्तरण का यह अर्थ है कि नये गुण अर्जित करने वाली किसी भी घटना मे नये परिमाणात्मक अभिलक्षणों का उपार्जन भी होता है । यह नियम विकास के अत्यन्त महत्वपूर्ण मोड़ो की विशेषताओं का चित्रण करता है ।

विकास की प्रक्रिया में पुरातन का निषेध होकर नूतन का प्रतिस्थापन हो जाता है । पहली अवस्था दूसरे को स्थान दे देती है । इस प्रक्रिया को दर्शन मे द्वन्द्वात्मक निषेध कहते हैं । यह क्रम जगत के सभी क्षेत्रों में निरन्तर चला करता है ।

'निषेध' शब्द का प्रयोग हेगेल ने भी किया था किन्तु उसके विचार से प्रत्यय के विकास क्रम मे निषेध होता है । मार्क्स और ऐंजिल्स ने अपने द्वन्द्वन्याय में निषेध शब्द का प्रयोग कायम रखा किन्तु उनका मत है कि भौतिक द्रव्य के विकास में निषेध होता है । मार्क्स ने लिखा कि 'किसी क्षेत्र मे कोई विकास अस्तित्व के पूर्व रूप का निषेध किये बिना सभव नही है ।' समाज का इतिहास भी यह सिद्ध करता है कि समाज की पुरानी व्यवस्था के निषेध से ही नई व्यवस्था उत्पन्न होती है । निषेध बाहर से नही आता वरन् वस्तु मे ही ऐसी आन्तरिक स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे वह अपनी पूर्व दशा का विनाश कर नया रूप धारण कर लेती है । इस विकास प्रक्रिया मे सम्पूर्ण पुरातन का निषेध नही होता । उसका जो पक्ष सड-गल कर अनुपयोगी हो गया वही नष्ट होता है ।

१ फ० एंजिल्स प्रकृति की द्वन्द्व ८ !

उसका शुद्ध पक्ष स्थिर रहकर इस शृंखला की कड़ी बना रहता है। इसलिए पुराने और नये के बीच अन्तराल न उत्पन्न होकर सातत्य बना रहता है।

इस विकास प्रक्रिया मे पुरातन बदल कर नूतन रूप धारण करता है, किन्तु वह सदा नूतन नही बना रहता। वह भी कालान्तर मे पुराना हो जाता है और उससे नया रूप उत्पन्न होता है। ऐसा होने मे निषेध का भी निषेध होता है। यही गति अनन्त काल तक चलती है और निषेध का निषेध होता रहता है।

लेनिन लिखते है, 'निषेध का निषेध गुजर चुकी मजिलों से मानों फिर-फिर गुजरने वाला लेकिन उच्चतर आधार पर गुजरने वाला विकास है।"[1] आदिकाल में वर्गहीन समाज था। उस समय उत्पादन के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व था। बाद मे सामाजिक सम्पत्ति का निषेध हुआ और उसके स्थान में निजी सम्पत्ति की स्थापना हुई। दास-प्रथा, सामन्तवाद और पूँजीवाद मे निजी सम्पत्ति ही रही। लेकिन साम्यवाद में उत्पादन के साधनो पर समाज का स्वामित्व पुनः हो गया। फलतः प्रारम्भिक अवस्था के लक्षण विकास के उच्चतर स्तर पर पुनरावर्तित होते हैं। यह निषेध का निषेध है।

विकास कभी एक सीधी रेखा मे नहीं होता। वह सर्पिल रेखा में ऊपर की ओर जाता है। यह प्रकृति, समाज और चिन्तन प्रक्रिया में सर्वत्र देखा जा सकता है। निषेध के निषेध का नियम सर्वव्यापी है, किन्तु वह एक विशेष ढग से काम करता है। ऐंजिल्स ने लिखा है, 'निषेध...... प्रथमतः प्रक्रिया विशेष के सामान्य स्वरूप से द्वितीयतः उसके विशिष्ट स्वरूप से निर्धारित होता है ... इस लिए प्रत्येक अलग अलग वस्तु का इस प्रकार निषेध करने का जिससे उसका और विकास हो सके एक खास ढंग होता है और हर प्रकार की अवधारणा या विचार के लिए भी यही बात सच है।"[2]

समाजवाद के अन्तर्गत निषेध के निषेध का नियम कुछ विशिष्ट लक्षणों के साथ कार्य करता दिखाई देता है। यहाँ निषेध सामाजिक राजनीतिक क्रांतियों का रूप नहीं ग्रहण करता। इसका कारण यह है कि समाजवादी समाज के व्याघात प्रतिरोधात्मक नही हैं। उनके समाधान के लिए सामाजिक जीवन की बुनियादी पुनर्रचना की जरूरत नही होती। यहाँ जिनका निषेध होता है वे सामाजिक सरचना से लुप्त होने वाले तत्त्व है। इसके अतिरिक्त समाजवाद के अन्तर्गत निषेध संतुलित व सचेत ढग से होते है। वे पूर्व की भाँति स्वतः स्फूर्त तरीके

---

१. व्ला० इ० लेनिन, कार्लमार्क्स, पृ०–३१।

२ फ्रे० ऐंजिल्स ड्यूहरिंग मत–खण्डन पृ०--२२६।

से नही होते। सारे समाज को एक साथ लेकर होने वाले निषेध मे जीवन के विभिन्न क्षेत्रो छोटे-छोटे निषेधों का एक समुच्चय शामिल होता है।

ज्ञान-मीमांसा

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मनुष्य द्वारा अर्जित सभी ज्ञान का उपयोग कर इस निकर्ष पर पहुँचता है कि जगत पूर्णतः ज्ञेय है। मनुष्य अपनी तर्क बुद्धि से यह भली भाति जान सकता है कि भौतिक सत्ता का क्या स्वरूप है। हमारे आस-पास का बाह्य जगत हमारे ज्ञान का साधन है। उसका प्रभाव मनुष्य पर पडता है और उसके मन में तद्रूप सवेदन,विचार और प्रत्यय उत्पन्न होते है। मनुष्य पेड-पौदे मकान देखता है,गर्मी-सर्दी का अनुभव करता है, पशु-पक्षियो और मनुष्यों को बोलते सुनता है। यदि ये विषय बाहर न हो और उनका प्रभाव मनुष्य पर न पडे तो कोई उनका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है। मनुष्य बाह्य जगत का अनुभव ही नही करता, वरन् वह सक्रिय होकर उनसे व्यवहार भी करता है। मार्क्स के पूर्व भौतिकवादियों ने ज्ञान मे मनुष्य की सक्रियता का महत्व नही समझा। उसके महत्व को उद्‌घाटित करते हुए मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की ज्ञान-मीमासा विकसित की।

मार्क्स के ज्ञान--सिद्धान्त की सबसे बडी विशेषता यही है कि उसमें ज्ञान की प्रक्रिया का आधार मनुष्य का व्यवसाय और उसकी सक्रियता है। कार्य करते समय मनुष्य को वस्तुओ का और दृश्य जगत का ज्ञान होता है। व्यवहार ज्ञान की प्रक्रिया का आधार भी है और सत्य का प्रमाण भी है।

मार्क्स ने ज्ञान की सामाजिक प्रकृति पहचानी है। मनुष्य अकेले ही अपने कार्य-व्यापार के समय जगत पर अपना प्रभाव नही डालता वरन् उसके साथ अन्य मनुष्य भी ऐसा ही करते हैं। अत: यदि ज्ञान का विषय भौतिक जगत है तो ज्ञान को ग्रहण करने वाला मनुष्य समाज है। ज्ञान के क्षेत्र मे द्वंद्ववाद यह सिद्ध करता है कि ज्ञान एक अन्तहीन प्रक्रिया है। विचार अज्ञान से ज्ञान की ओर आगे बढते है अधूरा ज्ञान पूर्णता की ओर प्रसरित होता है और अनिश्चित ज्ञान में निश्चितता आती है। पुराने काल बाधित सिद्धान्तो के स्थान में नये अधिक उपयोगी सिद्धान्त निर्मित होते हैं।

ज्ञान के विकास का मूल आधार व्यावहारिक जीवन ही है। मनुष्य को आदि काल से ही अपनी जीविका के लिए काम करना पड़ा है। कार्य करते समय वह प्राकृतिक शक्तियों के सम्पर्क मे आया और उन्हे अपने उपयोग में लाने लगा। उत्पादन बढने पर उसे अधिक ज्ञान की आवश्यकता हुई। उसी के साथ नापने जोखने के लिए उसने गणित के नियम खोजे मकान सडक पुल आदि बनाने

उनके निर्माण की विद्या का विकास किया। उससे विज्ञान और भाषा आदि का विकास हुआ। व्यवहार में ही मनुष्य ने ज्ञान मे सहायक उपकरण भी बनाये। उनसे अधिक सूक्ष्म और दूर की वस्तुओ का ज्ञान सम्भव हुआ।

ज्ञान या संवित मनुष्य की क्रिया का एक रूप है। यह उसकी सैद्धान्तिक क्रिया है। सिद्धान्त मे जगत का रूप लक्षित होता है किन्तु सिद्धान्त किसी वस्तु मे परिवर्तन या विकास नही ला सकता है। वह तो कार्य द्वारा ही होगा। इसलिए व्यवहार बिना सिद्धान्त निष्प्रयोजन है और सिद्धान्त बिना व्यवहार अन्धा है। इससे सिद्धान्त और व्यवहार मे एकता सिद्ध होती है। मार्क्स और लेनिन ने इसको बड़ा महत्व दिया है।

ज्ञान स्थिर नही रहता, वह विकासवान है। व्यावहारिक जीवन का प्रत्यक्ष ज्ञान विकसित होकर विचार का सूक्ष्म रूप धारण कर लेता है। लेनिन ने लिखा है, "प्रत्यक्ष से सिद्धान्त और सिद्धान्त से व्यवहार, सत्य के ज्ञान का यही द्वन्द्वात्मक पथ है।"[1] इसलिए ज्ञान का प्रारम्भ इन्द्रियो से प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान से होता है। हम नित्य अपनी इन्द्रियो से बाह्य जगत को देखते सुनते और जानते है। हमारे शरीर मे इन्द्रियां ही वह द्वार है जिनसे बाह्य वस्तुओं की प्रतिलिपिया या चित्र हमारी चेतना मे प्रवेश करते है। उनका प्रभाव प्राप्त करने के लिए हमारे मन में उपयुक्त उपकरण विद्यमान हैं। वस्तुओ के प्रतिबिम्ब इन्द्रिय-द्वारो मे प्रवेश करते है, फिर सवेदना वाहक तन्तुओं द्वारा वे विद्युत प्रवाह के समान मस्तिष्क तक पहुँचते हैं और अन्त में वहाँ वे हमारे अनुभव का रूप धारण कर लेते हैं। वस्तु का यह संवेदन या अनुभव लेनिन के शब्दों मे वस्तुगत जगत का आत्मगत बिम्ब' है। इस प्रत्यक्ष ज्ञान मे वस्तु और व्यक्ति दोनों का योगदान है। यही कारण है कि एक ही वस्तु या दृश्यजगत को विभिन्न मनुष्य थोड़ा भिन्न प्रकार से देखते हैं। इसका अर्थ यह नही है कि इन्द्रियों से हमे वस्तुजगत का मिथ्या ज्ञान होता है। एक इन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान प्राय. दूसरी इन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान द्वारा शुद्ध हो जाता है या उसकी सत्यता प्रमाणित हो जाती है।

इन्द्रिय सवेदना की अपेक्षा प्रत्यक्ष ज्ञान उच्च स्तर का है। उससे भी उच्च स्तर का ज्ञान वस्तु का मानसिक विचार (आइडिया) है। प्रत्यक्ष से ही विचार की उत्पत्ति होती है। वह विचार ही स्मृति मे सहायक होता है किन्तु यह भी ज्ञान का प्रारम्भिक स्तर है। इससे वस्तु का बाहरी रूप ही जाना जाता है। हमारे व्यवहार के लिए यह अधिक उपयोगी नही है।

अनेक वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर उसके आधार पर एक सामान्य ज्ञान उत्पन्न होता है। उसमें एक नया गुण उत्पन्न होता है। इस ज्ञान से वस्तु

---

१ व्ही आई लेनिन सकलित रचनायें, खण्ड ३८ पृ० १७१

की मुख्य विशेषतायें ज्ञात होती है। इसी स्तर पर वह तर्कीय विचार उत्पन्न होता है जिसके द्वारा प्रकृति के नियमों का ज्ञान होता है। यह तर्कीय विचार प्रत्यय (कन्सेप्ट) रूप होता है। किसी वस्तु का प्रत्यय उसका समग्र बोध नही करता, वरन् उसके कुछ सामान्य गुणों का ज्ञान देता है। उदाहरणार्थ, 'वृक्ष' का प्रत्यय केवल यह बताता है वह तना, डाल, पत्ते, फल, फूल वाली एक वस्तु है। उससे यह ज्ञान नही होता कि वह आम है या इमली, बीस फुट ऊँचा है या दस फुट।

सभी प्रत्यय व्यावहारिक अभ्यास से उत्पन्न होते है। प्रत्यय ज्ञान अधिक उच्च स्तर का इसलिए माना जाता है कि इसके द्वारा एक वस्तु का नही वरन एक प्रकार की या एक जाति की अगणित वस्तुओं का ज्ञान होता है। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान के बाद प्रत्यय ज्ञान एक दूर की छलाग है। इसमे द्वन्द्वन्याय देखा जा सकता है।

प्रत्यय ही स्थिर रूप धारण कर 'जजमेंट' और निर्णय बन जाते है। एक जजमेंट मे कई प्रत्यय एक निश्चित रूप मे ग्रथित होते है। जैसे, समाजवाद और शान्ति दो प्रत्यय है। उन्हे जोड़कर जब हम कहते है कि 'समाजवाद में ही शान्ति है' तो यह एक जजमेंट हो गया। इस प्रकार के जजमेंट मिलकर एक निर्णय निकाल सकते है। वैज्ञानिक अनुसंधानो मे प्रयुक्त होने वाली प्राक्कल्पना और उसके सिद्ध होने पर वैज्ञानिक नियम इसी प्रक्रिया से बनते है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद मे सत्य किसी वस्तु का वह ज्ञान है जो उस वस्तु को यथावत विम्बित करता है। उसे वस्तु और उसके ज्ञान की एकरूपता भी कह सकते है। सत्य वस्तुगत होता है। वह ज्ञाता पर निर्भर नही है।

व्यावहारिक दृष्टि से हम सत्य को दो कोटि का पाते है—सापेक्ष और निरपेक्ष। जिस ज्ञान मे वस्तु के साथ ज्ञाता का भी कुछ अंश मिला रहता है वह सापेक्ष सत्य ज्ञान है। यह वस्तु का किंचित विकृत ज्ञान है। यदि वह पूर्णत अविकृत हो तो उसे निरपेक्ष या पूर्ण सत्य कहेगे। पूर्ण सत् का ज्ञान सहसा नही होता। सापेक्ष ज्ञान क्रमश. विकसित होता हुआ निरपेक्षता के स्तर पर पहुँचता है। लेनिन कहते है, "मनुष्य के विचारो मे स्वभावतः इतनी शक्ति है कि वे निरपेक्ष सत् बता सकते है, जो सापेक्ष सत् ज्ञान का समुच्चय होता है। विज्ञान के बढते हुए कदमों से पूर्ण ज्ञान के अश जुडते जाते है किन्तु विज्ञान की प्रत्येक प्रतिस्थापना सापेक्ष सत्य होती है। ज्ञान के विकास के साथ वह बढती-घटती रहती है।"[1]

---

1 व्ही आई लेनिन संकलित खण्ड १४ पृ० १४५

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार कोई भी सत् अमूर्त नही है। सत् सदा मूर्त ही होता है। उसका मापदण्ड व्यवहार है। हम सब किसी सत् के विषय मे कितना ही तर्क-वितर्क करे किन्तु व्यवहार मे उसका निर्णय हो जाता है। किन्तु व्यवहार का यह अर्थ नही है कि उसमे जो उपयोगी सिद्ध होता है वही सत्य है। मार्क्स अर्थक्रियावाद का खण्डन करता है जिसमे उपयोगी ही सत्य माना जाता है। व्यवहार में ज्ञान की सत्यता इसलिए प्रमाणित होती है कि वहाँ उसकी परीक्षा हो जाती है। वस्तुतः सत् ही उपयोगी है, उपयोगी सदा सत् नही होता है। सत् ज्ञान के आधार पर किया गया व्यवहार ही अपेक्षित फल देता है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद

मार्क्स का दर्शन भौतिकवादी है। किन्तु वह अन्य दार्शनिको की भाँति दार्शनिक समस्याओ के विवेचन तक ही सीमित नही रह जाता। उसका मुख्य कार्य क्षेत्र समाज है। वह समाज के विकास के लिए उसमे क्रांति लाना चाहता है। इसलिए वह अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को उसके लिए एक अस्त्र की भाँति प्रयोग करता है।

समाज की सरचना मे मार्क्स के पूर्व भी दार्शनिकों ने रुचि दिखाई थी। इसका मूल स्रोत खोजने चलें तो हमें यूनानी दर्शन तक जाना पडेगा। मार्क्स के विचार से वे भौतिकवादी और प्रत्ययवादी दोनो ही थे किन्तु उनका चिन्तन अवैज्ञानिक था। सामान्यतः समाजशास्त्र पर प्रत्ययवादियों का वर्चस्व रहा। मार्क्स से कुछ काल पूर्व ही हेगेल ने इस क्षेत्र मे मूल्यवान योगदान दिया था। उसने मनुष्य जाति के इतिहास को द्वन्द्वन्याय द्वारा समझने का प्रयास किया, किन्तु वह इस भ्रामक निर्णय पर जा पहुँचा कि समाज पर ईश्वर की इच्छा का शासन चलता है। उसी की योजना पूरी होकर विश्व इतिहास का सृजन होता है।

प्रत्ययवादी दार्शनिको ने एक भूल यह भी की कि उन्होने इतिहास के निर्माण मे श्रमिक वर्ग का कोई योगदान स्वीकार नही किया। वे यही समझते रहे कि ईश्वर की इच्छा राजा-महाराजाओ, सेनानायको और विद्वानों द्वारा ही पूरी होती है। वे यह भी नही समझ सके कि समाज का विकास द्वन्द्वन्याय से होता है और इतिहास इसी तथ्य को सिद्ध करता है। मार्क्स और ऐंजिल्स ने इन कमियो को पूरा किया। उसके लिए उन्होने ऐतिहासिक भौतिकवाद के सिद्धान्त की प्रतिस्थापना की। उन्होने समाज विज्ञान से प्रत्ययवाद निकाल बाहर किया। उनके अनुसार प्राणी द्वारा ही सामाजिक चेतना का उद्भव होता है

सामाजिक प्राणी समाज के भौतिक जीवन से सम्बन्ध रखता है। उसकी उत्पादक क्रियायें और आर्थिक व्यवहार उसकी सीमा में आती है। सामाजिक चेतना उस समाज का बौद्धिक, सिद्धान्तिक और पारम्परिक मान्यताओं का स्तर है।

समाज का विकास उसकी आर्थिक संरचना के परिवर्तन के कारण होता है। विकास की प्रत्येक विकसित सीढ़ी पर आर्थिक संरचना उच्च कोटि की होती है। इतिहास इसका प्रमाण है। प्रारम्भ में आदिकालीन साम्यवाद था। उसके बाद क्रमशः दास प्रथा, जमींदारी प्रथा और पूँजीवादी प्रथा का विकास हुआ। उसका अन्त शुद्ध साम्यवाद में हो रहा है।

— —

उपसंहार

मनुष्य की जिज्ञासा का परिणाम दर्शन है। आदिकाल से लेकर आज तक तर्क का सहारा लेकर मानवीय जिज्ञासा जिन निष्कर्षों पर पहुँची है उन्हीं का एकीकृत एवं सुसगत रूप दर्शन का इतिहास कहलाता है। हमारी जिज्ञासा निरपेक्षरूप से कार्य नही करती। मनः शारीरिक परिस्थितियों की उपज होने के कारण यह जिज्ञासा शारीरिक प्रभावों से मुक्त होने का प्रयास करने पर भी उनसे पीछा छुडाने में असमर्थ रहती है। मनुष्य का दार्शनिक चिन्तन इस तथ्य को प्रमाणित करता है। पश्चिमी चिन्तन का प्रारम्भ तो भौतिकवादी विचार से होता ही है, उन-उन देशों का चिन्तन भी जो अपने चिन्तन को आध्यात्मिक कहने से नहीं थकते भौतिकवादी प्रवृत्तिओं से मुक्त नहीं रह सका। मेरे विचार से भौतिकवादी चिन्तन मानव मनस् के दिवालियेपन का द्योतक न होकर उसकी मूलभूत अनिवार्यता को प्रगट करता है। भारतीय परम्परा में कतिपय अन्य परम्पराओं में भी, यह स्वीकार किया गया है कि मनुष्य की संरचना आध्यात्मिक और भौतिक दोनों तत्वों से मिलकर हुई है। अतः मानव चिन्तन के दो आयाम होना स्वाभाविक ही है। किसी एक पक्ष का पूर्ण त्याग मनुष्य के मन की विकृतिओं का परिणाम ही कहा जायेगा। इसी कारण मेरी यह धारणा है कि भौतिकवादी चिन्तन को किसी अन्य प्रकार के चिन्तन के प्रति केवल प्रतिक्रिया, मात्र कहना नासमझी का परिचायक है। दर्शन के इतिहास में ये दोनों विचारधारायें समानान्तर रूप से चल रही हैं। यह सभव है कि किसी एक देश एव काल मे इन दोनो में से कोई एक ही मुख्यरूप से मनुष्य के चिन्तन का विषय रहा हो। यदि पश्चिमी दर्शन का प्रारम्भ मूल रूप से भौतिकवादी दृष्टिकोण को लेकर होता है तो भारतीय चिन्तन के प्रारम्भ में अध्यात्मवादी प्रवृत्ति अधिक दिखलाई पडती है, किन्तु इन दोनो मे से कोई भी परम्परा शुद्ध भौतिकवादी अथवा अध्यात्मवादी नही कही जा सकती है। दोनों मे अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का द्वैत विद्यमान है।

यदि चिन्तन परम्पराओं से हटकर सामान्य मनुष्य के जीवन को देखा जाय तो कहा जा सकता है कि सामान्य मनुष्य के चिन्तन एवं क्रियाकलापो मे प्रवृत्तियाँ ही मुख्य रही हैं। किसी भी देश अथवा काल का जीवन

इसका अपवाद नही है। सामान्य मनुष्य के जीवन में भौतिक मूल्यों को ही अधिक महत्व दिया जाता रहा है। यदि पश्चिम में धन जमीन एवं स्त्री को लेकर संघर्ष हुए हैं तो भारत भी इसका अपवाद नही रहा है। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि यदि उपर्युक्त कथन सत्य है तो भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिक क्यों कहा जाता है ? प्रस्तुत लेखक के अनुसार जो लोग भारतीय संस्कृति को आध्यात्मिक कहते है वे भारतीय चिन्तन परम्परा को ही ध्यान मे रखते है। ऋग्वेद से लेकर बीसवी शताब्दी तक भारतीय चिन्तन मे आध्यात्मिक प्रवृत्तिओं का बोलबाला रहा है। इस कथन का तात्पर्य लोकायत चिन्तन अथवा एम एन राव या राहुल साकृत्यायन के विचारो की उपेक्षा नही है। इसका तात्पर्य यह है कि हमारा सोच मुख्यत. आध्यात्मिक मूल्यों की ओर ही उन्मुख रहा है। अपने इस मत की पुष्टि करने के लिए हम कह सकते है कि मोक्ष अथवा मानव-पूर्णता के जितने प्रकार के सिद्धान्त भारतीय चिन्तन परम्परा मे उपलब्ध है उतने किसी एक सस्कृति मे नहीं हैं। मोक्ष संबन्धी ये सभी सिद्धान्त अतिभौतिक उपलब्धि को ही अन्तिम मानते है।

इसी प्रकार पश्चिमी चिन्तन, मध्ययुगीन ईसाईवाद को छोडकर, प्राय विश्वोन्मुखी रहा है। ६०० बी सी. से लेकर आज तक पश्चिमी चिन्तन इस विश्व और उसकी समस्याओं के समाधान के लिए अधिक प्रयत्नशील है। फलत. वहा की अधिकतर दर्शन पद्धतिया भौतिकवाद का प्रारूप कही जा सकती है। जिस प्रकार श्री अरविन्द, डा. राधाकृष्णन् विवेकानन्द इत्यादि को हम नव्य-वेदान्ती कहते हैं, उसी प्रकार यदि हम अनुभववाद वस्तुवाद, तर्कीय-प्रत्यक्षवाद, उपयोगितावाद इत्यादि को नव्य-भौतिकवादी कहे तो प्रतिशयोक्ति नहीं होगी। यदि भारतीय चिन्तन में अतिभौतिक मूल्य को लेकर विभिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये तो पश्चिम मे इस विश्व को लेकर अनेक सिद्धान्त सामने आये है। मानवीय चिन्तन की ये दो दिशाये स्पष्ट परिलक्षित होती है। यह सत्य है कि अध्यात्म-वादी चिन्तन ने कुछ मनुष्यों का इस जीवन और जगत् के प्रति दृष्टिकोण को अवश्य प्रभावित किया है किन्तु भौतिकवादी विचार धारा तो कुछ सीमा तक समाज-परिवर्तन और इस विश्व का नक्शा बदलने में फलित हुई है।

आधुनिक वैज्ञानिक खोजों को भौतिकवादी विचारधारा ने आधार प्रदान किया है। आधुनिक भौतिकी ने परमाणु की संरचना की खोजबीन करके मनुष्य को अद्भुत शक्तिया प्रदान की हैं। इस खोजबीन को करने वाले वैज्ञानिकों को परमाणु संबन्धी विचार हमारे परमाणुवादी भौतिकवादिओं से ही मिला है। परमाणु के सिद्धान्त के प्रतिपादन का श्रेय भारत मे कणाद और पश्चिम में डेमो-क्राइटस को ही जाता है कोई भी वैज्ञानिक यह कहने में समर्थ नहीं है कि

परमाणु सम्बन्धी विचार उपर्युक्त दार्शनिकों के अतिरिक्त किसी वैज्ञानिक की देन है। इस जीवन-यापन को सरल और सुखमय बनाने में वैज्ञानिक खोजों का ही योगदान है। अध्यात्मवादी विचार ने मनुष्य को सुन्दर एवं आनन्दमय भविष्य के स्वप्न भले ही दिखलाये हों, जीवन जीने के लिए नैतिक मार्ग भले ही प्रस्तुत किया हों किन्तु मनुष्य के जीवन-स्तर को ऊपर उठाने, जीवन को सुविधापूर्वक जीने और इस समस्त विश्व को एक सूत्र में बाधने का कार्य निश्चित रूप से भौतिकवादी विचारधारा की देन है। मोक्ष अथवा आत्मोपलब्धि का सुन्दरतम स्वप्न, अध्यात्मवाद ने भले ही दिखलाया हो किन्तु जीवन के इहलौकिक स्तर पर अंधेरे को प्रकाश में बदलने का कार्य भौतिकवादी विचारधारा का ही परिणाम है। कहने का तात्पर्य यह है कि तर्कीय दृष्टिकोण से भौतिकवादी विचार धारा को अपूर्ण भले ही सिद्ध किया जाय किन्तु इस जीवन-यापन मे उसके योगदान की उपेक्षा करना संभव नहीं है। आधुनिक भौतिकवादी विचार धारा ने इस विश्वसमाज के एक बडे भाग का दिशा परिवर्तन ही कर दिया है। मार्क्स का भौतिकवाद साम्यवादी समाज संरचना का एक मात्र आधार है। मनुष्य का मनुष्य के द्वारा ही शोषण जिस मात्रा मे साम्यवादी समाजो मे समाप्त हुआ है, इतना अन्य प्रकार के समाजों में सम्भव नही हो सका। कहने का तात्पर्य यह है कि लौकिक जीवन स्तर को परिवर्तित करने मे भौतिकवाद और उससे सबद्ध चिन्तन ही अधिक समर्थ हुआ है।

निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि भौतिकवाद और अध्यात्मवाद एक दूसरे की विरोधी प्रवृत्तियाँ नही है। वे मानवीय चिन्तन की दो दिशायें है। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद एक दूसरे के पूरक हैं। मानव जीवन के दो पक्ष हैं। भौतिकवाद ने अध्यात्मवाद के लिए मार्ग प्रशस्त करने का कार्य किया है और अध्यात्मवाद ने भौतिकवाद को दिव्य बनाने की चेष्टा की है। जिस प्रकार मनुष्य का जीवन इनमे से किसी एक के सहारे नही कट सकता उसी प्रकार मनुष्य का चिन्तन इनमें से किसी एक दिशा का अनुसरण करके ही नही चल सकता। इनमें से किसी एक की त्रुटियां देखना अथवा उसे त्याज्य समझना हमारी नासमझी का परिचायक है। इनमें से कोई "वाद" अशुभ नही है। उसका प्रयोग अशुभ हो सकता है। हमारे अधिकतर मनीषी इस तथ्य से अवगत रहे है। अतः किसी एक का निराकरण उन्होने नही किया। उन्होने उनके समन्वय का ही प्रयास किया है।

भौतिकवादी चिन्तन धारा का यह महत्व समझकर पिछले अध्यायो मे इसकी विकसित होती रही पूर्वी और पश्चिमी परम्पराओं पर प्रकाश डाला गया है। अध्यात्मवाद का उल्लेख केवल प्रासगिक हुआ है प्राचीनकाल का

भारतीय भौतिकवाद एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में अवश्य उत्पन्न हुआ किन्तु तत्कालीन अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों ने उसके साथ गांठ जोडकर विकास करने की अपेक्षा उसके विपक्षी बनकर खड़े होने में अधिक गौरव का अनुभव किया। जैन और बौद्ध दार्शनिक उसकी सभी मान्यताओं का तिरस्कार नहीं कर सके तथा न्याय और वैशेषिक उसकी सभी सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं कर सके, फिर भी वे सब चार्वाक के भौतिकवाद के कट्टर आलोचक ही रहे। प्रायः सभी भारतीय दर्शन पद्धतियो में चार्वाक दर्शन पूर्व–पक्षी की भांति माना गया है।

पश्चिम का यूनानी दर्शन समग्र रूप से भौतिकवादी प्रवृत्ति लेकर ही उत्पन्न हुआ। उसने तत्कालीन धार्मिक मान्यताओ को अदार्शनिक और अन्ध-विश्वास ही माना। हर नई पीढी के दार्शनिक ने पूर्व मान्यताओ की तर्कहीनता दूर कर दर्शन को अधिक सुसंगत बनाने का प्रयास किया। इस प्रयास मे बहुत वार एक त्रुटि से बचने का प्रयास करने मे दूसरी त्रुटि स्वीकार कर ली गयी, फिर भी डेमोक्रिटस के दर्शन मे सन्तोषजनक उपलब्धियां दिखाई देने लगी। उसके परमाणुवाद का स्थाई मूल्य था।

भारत में चार्वाक दर्शन परमाणुवादी नहीं है। जैन और न्याय आदि दर्शनों में परमाणुवाद की उद्भावना की गयी, किन्तु उसके साथ जीव, ईश्वर आदि चेतन सत्तायें भौतिक परमाणु से स्वतन्त्र मान ली गयी। इसके कारण भौतिकवादी पक्ष दुर्बल हो गया। डेमोक्रिटस के दर्शन में चेतना की स्थिति द्वितीय स्तर की थी, किन्तु भारतीय परमाणुवादियो में चेतना भूतपदार्थ के समान स्तर की बन कर आई।

इसके अतिरिक्त, भारत मे चार्वाक की भौतिक परम्परा स्वतन्त्र रूप से अधिक विकास न कर सकी। प्रबुद्ध भौतिकवादियों ने कुछ नैतिक मूल्यों को अवश्य स्वीकार कर लिया किन्तु जगत और जीवन के सिद्धान्तों मे कोई उल्लेखनीय प्रगति नही हुई। वह बहुत काल तक उपेक्षित रहा। मुसलमानों के आक्रमण के समय मे और अंग्रेजो के आने तक समाज मे भौतिकवादी प्रवृत्ति हेय दृष्टि से देखी जाती थी। पिछली शताब्दी में प्रारम्भ हुए स्वतंत्रता संग्राम में कुछ विचारकों की यह धारणा बनी कि जीवन की अध्यात्मवादी दृष्टि मनुष्य को संघर्ष में पडने विरत करती है और उसका अनुचित लाभ विदेशियो को मिलता है। इसलिए एम. एन. राय आदि विचारको ने मार्क्स के भौतिकवाद से प्रेरित होकर भारत मे भौतिकवादी सिद्धान्तों की पुनर्स्थापना की।

पश्चिम मे मार्क्स का भौतिकवाद भी एक ऐसी ही विवशता के कारण उत्पन्न हुआ था यद्यपि उसके पचास वर्ष पूर्व हेगेल का प्रखर तर्क

पर आरूढ़ होकर दार्शनिकों के चिन्तन जगत मे छा गया था,किन्तु सर्वहारा वर्ग को औद्योगिक आदोलन के समर मे सहारा देने के लिए भौतिकवाद ने बड़े प्रयास पूर्वक सिर उठाया। इसके लिए मार्क्स, ऐंजिल्स और लेनिन को घोर तप करना पड़ा।

एम० एन० राय और साकृत्यायन के भौतिकवाद में न वैसा चिन्तन का प्रयास दिखाई देता है और न वैसी पकड़ मिलती है जैसी आधुनिक पश्चिमी भौतिकवाद मे है। इसके परिणामस्वरूप वह अधिक दिन तक जीवित न रह सका। देश की स्वतन्त्रता के बाद भारतीय आधुनिक भौतिकवाद न शासन का आधार बन सका और न चिन्तकों की प्रेरणा का स्रोत रहा। इसके विपरीत नव-वेदान्त में अधिक प्रगति दिखाई दी।

वर्तमान काल में यद्यपि भारतीय चिन्तक भौतिकवादी आधार पर कोई ठोस कार्य नही कर रहे है, किन्तु जनसाधारण के जीवन मे इस ओर झुकाव अवश्य दिखाई दे रहा है। वैज्ञानिक प्रगति से और पश्चिमी भौतिकवादी चिन्तन से प्रेरित होकर उनके जीवन की मान्यताये तथा नैतिक और सामाजिक मूल्य भौतिकवादी ही बने रहे है। आध्यात्मिक मूल्यो की ओर उन्हें कोई आकर्षण नही दिखाई देता। ऐसे अवसर पर यदि सुचिन्त्य, सुसंगत और भारतीय परिवेश के अनुकूल भौतिकवाद का आधार उसे मिलता तो निश्चय ही एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति होती। यद्यपि पश्चिमी भौतिकवाद को इधर घसीटा जा रहा है और कई राजनीतिक पार्टिया उसी आधार पर यहां खड़ी हैं, किन्तु भारतीय परिवेश से उनकी सगति न होने के कारण उन्हें समाज मे व्यापक मान्यता नही मिल रही है। सम्भव है कुछ विचारकों का ध्यान इस ओर गया हो और वे इस क्षेत्र मे काम कर रहे हों।